नपुंसकमें उभयभाव की मुख्यता रहती है ॥ ५०-५१ ॥

आयुष्य भेद और उसके स्वामी ।

औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षाऽयुषोऽनपवर्त्या-युष ॥ ५२ ॥

अर्थ—औपपातिक, " नारकी, देवता " चरम शरीरी, उत्तमपुरुष और असंख्यातवर्षजीवी ये सब अनपवर्तनीय आयुष्य वाले होते हैं ॥ ५२ ॥

विवेचन—संसारकी चार गतियों में आयुष्य स्थिति की क्या व्यवस्था है ? क्योंकि युद्धादि विप्लवों में हजारों हृष्ट पुष्ट नवयुवक मरते दिखाई देते हैं और वृद्धावस्था से जर्जरित देहवाले भयानक आफतोंमें से बचते हुए देख यह संदेह होता है कि क्या अकाल मृत्यु है ? जिससे अनेक व्यक्ति एक ही साथ मृत्यु शय्या पर सो जाते हैं और कई मरणान्त कष्ट को पाकर भी जीवित रहते हैं । इसीका यहां स्पष्टीकरण करते हैं ।

आयुष्य दो प्रकार का होता है (१) अपवर्तनीयायुष्य, (२) अनपवर्तनीयायुष्य । जो आयुष्य बन्धसमय की स्थिति के बिना परिपूर्ण हुए शीघ्रता से भोगलिया जाता है । उसे अपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं और आयुष्य के बन्धकालकी स्थिति परिपूर्ण होनेसे पहले जो समाप्त नहीं होता उसे अनपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं। अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयुष्यका बन्ध स्वाभाविक नहीं होता वह परिणामोंके तारतम्य भावोंपर अवलम्बित है । भावी जन्म के आयुष्यका निर्माण वर्तमान जन्ममें होता है। आयुष्यबन्ध के समय परिणामोंकी शिथिलतासे शिथिलबन्ध होता है और निमित्त मिलने पर काल मर्यादा घट जाती है । उसे अपवर्तनीय

आयुष्य कहते हैं। इससे विपरीत अर्थात् परिणामों की तीव्रता से आयुष्यका बन्ध प्रगाढ़ होता है। उसे कैसा भी कारण क्यों न प्राप्त हो परन्तु अपनी मर्यादित काल स्थिति से कदापि न्यून नहीं होता। उसे अनपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं। जैसे-अपने बल पूर्वक अत्यन्त दृढ़ता से खड़े हुए पुरुषोंको कोई भेद नहीं सकता और यदि वे शिथिलता से अनउपयोग खड़े हैं तो साध्य हो सकते हैं अथवा यदि कोई पुरुष किसी वस्तु की गठड़ी बांधकर अपने कन्धे पर उठाये हुए किसी चिन्तित स्थान पर जा रहा है। यदि उसकी गांठ शिथिल बन्धी हुई है तो योग्य निमित्त मिलनेपर विना प्रयास केही खुल जायगी और यदि वह गांठ प्रबल यानि प्रगाढ़ बन्धी हुई है तो कैसा भी कारण क्यों न प्राप्त हो वह रास्ते में खुल नहीं सकती। इसीतरह तीव्र परिणाम से बन्धा हुआ आयुष्य शस्त्र विषादि के प्रयोग होने पर भी अपने नियतकाल की मर्यादा से पहले पूर्ण नहीं होता और मन्द परिणाम से उपार्जित किया हुआ शिथिल बन्धवाला आयुष्य विष, शस्त्रादि प्रयोग प्राप्त होते ही अपनी नियतकालकी मर्यादा के पहले अन्तर मुहूर्त मात्र में सम्पूर्ण भोगलिया जाता है। इस तरह आयुष्य के शीघ्र भोग को ही अपवर्तन अर्थात् अकाल मृत्यु कहते हैं और नियत स्थिति-वाले भोगको अनपवर्तनीय अर्थात् कालमृत्यु कहते हैं। अपवर्तन आयुष्य सोपक्रम अर्थात् उपक्रम सहित होता है। तीव्र शस्त्र, तीव्र विष, तीव्र अग्नि आदि के निमित्त से जो अकाल मृत्यु होती है उस निमित्त प्राप्ति को उपक्रम कहते हैं। ऐसा उपक्रम अपवर्तनीय आयुष्य को अवश्य संप्राप्त होता है। क्योंकि वह आयुष्य नीयत कालकी मर्यादा विना प्राप्त हुएही भोगने योग्य होता है परन्तु अपवर्तनीय आयुष्य सोपक्रम और निरुपक्रम दोनों प्रकार का होता

है। उक्त आयुष्यको अकालमृत्युके योग्य निमित्त प्राप्त होते भी हैं और नहींभी होते। यदि यथोक्त निमित्त सनिधान हो भी जाय अर्थात् अकालमृत्यु के सयोग प्राप्त हो भी जाय परन्तु अनपवर्तनीय आयुष्य अपनी नियत काल मर्यादा के पहले कदापि पूर्ण नहीं होता।

अधिकारी—अनपवर्तनीय आयुष्य के अधिकारी औपपातिक अर्थात् उपपात सज्ञक जन्मवाले देवता, नारकी, तथा चरम देह=तद्भव मोक्षगामी, उत्तम पुरुष=तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेवादि और असख्येय वर्षायुष्य वाले होते हैं। परन्तु इसमें औपपातिक (देवता, नारकी) और असख्येय वर्ष आयुष्यवाले कई मनुष्य, तिर्यंच निरुपक्रम=अनपवर्तनीय आयुष्यवालेही होते हैं। तथा चरम शरीरी और उत्तम पुरुष सोपक्रम, निरुपक्रम दोनों प्रकार के अनपवर्तनीय आयुष्यवाले होते हैं। इनके सिवाय शेष सब ससारी जीव अपवर्तनीय, अनपवर्तनीय दोनों प्रकार के आयुष्य वाले होते हैं।

प्रश्न—नियतकालस्थिति के पहले ही आयुष्य कर्म अपवर्तित हो जाय अर्थात् न्यून या नष्ट हो जाय तो कृत नाश, अकृतागम और निष्फलता दोष प्राप्त होता है? जो शास्त्र को अमान्य है।

उत्तर—कोई भी कर्म विना भोगे नष्ट नहीं हो सकता उसका प्रदेशोदय अथवा विपाकोदय अवश्य भोगना पड़ता है। प्रदेशोदय कर्म के विपाक (सुखदु खादि) जीव को अनुभव नहीं होते और विपाकोदयी सुख दुःख अनुभव होते हैं आयुष्य कर्म को छोड़ के शेष कर्म दोनों प्रकार से भोगे जाते हैं। परन्तु आयुष्य कर्म विपाक अनुभव किये विना कदापि छूट नहीं सकता। दीर्घ काल के आयुष्य को शीघ्र भोगलेने में कृतनाश और निष्फलता

दोष प्राप्त नहीं हो सकता और शिथिलबन्ध कर्मानुसार प्राप्त होनेवाली मृत्यु से अकृतकर्मके आगमनका दोषारोपण भी नहीं होता। जैसे—घनीभूत शुष्क तृणराशिमें एक किनारे अग्नि की चिनगारी लगादेनेसे वह एकैक तृणको जलाती हुई बहुत काल में उस गंजीको जलावेगी और यदि उसीके चारों तर्फ अग्निकी चिनगारियां रखदी जाय और वे पवन के झकोरेसे प्रज्वलित हो जाय तो अल्पकालमें उस गंजीको दहन करदेगी। इसी तरह शीघ्र परिपाक होनेवाले आयुष्यको अपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं।

इस बातको विशेष रूपसे स्पष्ट करनेकेलिये शास्त्रोंमें और भी दो दृष्टान्त पाये जाते हैं (१) गणित क्रिया का, (२) वस्त्र सुखाने का। जैसे—कोई बड़ी संख्या का लघुत्तम निकालना हो तब गणित विद्या का निपुण जैसा जल्दी जवाबदेगा वैसा अन्य पुरुष नहीं दे सकता दोनों का उत्तर समान है परन्तु क्रियाको भिन्नताके कारण ही समय भिन्नता होती है। इसीतरह किसी एक वस्त्रको दो, चार या अधिक परत करके सुखाया जाय तो वह विलम्ब से सूखेगा और यदि उसी को एक परत करके पवन की जगह धूपमें सुखादिया जाय तो वह बहुत जल्दी सूखेगा। उस वस्त्रमें पानीके कण अर्थात् गीलापन समान रूप होने पर भी क्रिया के भेद मात्र से समय का भेद होता है। यह शीघ्रता और विलम्बता केवल क्रिया के आधार पर निर्भर है। ऐसे ही यथोक्त विष, शस्त्रादि निमित्त भूत होने से समान परिणामवाला आयुष्य भी अपवर्तनीय, अनपवर्तनीय होता है इसीलिये पूर्वोक्त दोष "कृतनाश, अकृतागम और फलाव" की यहां प्राप्ति नहीं होती ॥ ५२ ॥

इति तत्त्वार्थ सूत्र द्वितीय अध्याय समाप्तम्।

तृतीय अध्याय ।

द्वितीय अध्यायमे गति-अपेक्षा ससारी जीवोंके नारकी, तिर्यंच मनुष्य, और देवता ये चार भेद कहे। अब इन्हीं के स्थान आयुष्य और अवगाहनादिका वर्णन तीसरे और चौथे अध्यायमें किया जायगा। प्रस्तुत अध्यायमे नारकी, तिर्यचों और मनुष्य के स्थानादि का वर्णन है। देवताओ का वर्णन चौथे अध्यायमें करेंगे।

नारकी का वर्णन ।

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातम प्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः ॥ १ ॥

तासु नरकाः ॥ २ ॥

नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया ॥ ३ ॥

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानाम् परास्थिति ॥ ६ ॥

अर्थ—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा,

धूम्रप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सातों पृथ्वी अधोअधः भूमिमें विस्तारवाली हैं और घनाम्बु, घनवात तथा आकाशप्रदेश के ऊपर स्थित अर्थात् ठहरीहुई हैं ॥ १ ॥

उन रत्नप्रभादि भूमियोंमें नरकावास हैं ॥ २ ॥

ये नरकावास निरन्तर अशुभतरलेश्या, अशुभतरपरिणाम, अशुभतरदेह, पीड़ा और विक्रियवाले हैं ॥ ३ ॥

उन नरकावासोंमें नारकीजीव परस्पर दुःख उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥ ४ ॥

चौथी नरकभूमिसे पूर्व अर्थात् पहली, दूसरी और तीसरी नर्कभूमिमें नारकी जीवोंको संक्लिष्ट परिणामवाले असुर (परमाधामी) से उत्पादित दुःख सहन करने पड़ते हैं ॥ ५ ॥

उन नारकोंके जीवोंकी परा अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति अनुक्रमसे एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस और तेतीस सागरोपम की है ॥ ६ ॥

विवेचन—जिस आकाशप्रदेशमें जीवादि पदार्थ है उसे लोक कहते हैं और शेष आकाश अलोक कहलाता है। सम्पूर्ण लोकके तीन विभाग माने गये है। अधो, मध्य और उर्ध्व। अधो अर्थात् नीचेका भाग उसे कहते हैं जो मेरु-पर्वतकी समतल भूमि से नव सौ योजन नीचेकी पृथ्वी, वहींसे लोक का अधोभाग माना गया है, जिसका आकार उल्टे हुए सकोरेके समान ऊपरी भाग संकीर्ण और नीचे अनुक्रम से विस्तार वाला है। मेरु-पर्वतकी समतल भूमिसे नवसौ योजन नीचेकी पृथ्वी और नवसौ योजन ऊपर आकाश एवं अठारहसौ योजन मध्यलोक कहलाता है। जिसका आकार झालर के समान=आयामविष्कंभ (लम्बाई चौड़ाई) बराबर बराबर है। उसे मध्यलोक कहते हैं और मध्यके

ऊपरी सम्पूर्णविभाग को उर्द्धलोक कहते हैं जिसका आकार पखा घज के समान है। ऊपर और नीचे संकीर्ण और मध्यभाग विस्तार वाला है।

नारकीजीवोंके निवासस्थान भूमि को नरकभूमि कहते हैं। वह अधोलोकमें है। उस भूमिके सात विभाग माने गये हैं और ये सातों विभाग समश्रेणी नहीं हैं किन्तु एक दूसरेके ऊपर नीचे है। उसका आयाम विष्कम्भ अनुक्रमसे नीचे नीचे विस्तार वाला है अर्थात् पहली नर्क भूमि से दूसरी नर्कभूमि विस्तारवाली है। दूसरी से तीसरी एव यावत् सातवीं नरक भूमि अधिक अधिकतर विस्तारवाली है।

सातों नरक भूमि एक दूसरी के नीचे है परन्तु वे भूमि यायें परस्पर संलग्न नहीं हैं। उनके परस्पर बहुत अन्तर है। उस अन्तरमें प्रस्तुत सूत्रकारने घनोदधि, घनवात और आकाश प्रदेश ही कहा है, परन्तु अन्य शास्त्रोंमें इस क्रमसे कथन है। अर्थात पहली नरकभूमि, के नीचे घनोदधि, घनोदधि के नीचे घनवात, घनवातके नीचे तनवात और तनवातके नीचे आकाशप्रदेश है। उस आकाशप्रदेश के पश्चात् दूसरी नरकभूमि है। इस दूसरी नरक भूमि और तीसरी नरकभूमि के बीचमें घनोदधि आदिका क्रम पूर्व वत है एव सप्तमी नरकभूमि पर्यन्त घनोदधि, घनवात, तनवात और आकाशप्रदेश अवस्थित रूप है। इसका वर्णन भगवती सूत्र श० १ उ० ६ में सविस्तार है। वहां इस बातका भी शंका समाधान है कि वायु के आधार उदधि और उदधिके आधार पृथ्वी कैसे ठहर सकती है। इस समाधानके लिये पानी और वायु से भरी हुई मसकका दृष्टान्त देकर समझाया है।

ऊपर ऊपर की नरक भूमिसे नीचे नीचेकी नरकभूमि की

जाड़ाई अर्थात मोटाई न्यून न्यून है। जैसे-प्रथम नारकीकी मोटाई एक लाख अस्सी हजार (१८००००) योजन है। दूसरी नरकभूमि की मोटाई एक लाख बत्तीस हजार योजन एवम् तीसरीकी १२८००० चौथीकी १२०००० , पांचवींकी ११८०००, छट्ठीकी ११६००० और सातवींकी १०८००० योजन का जाडापन (मोटाई) है। सातों नरक भूमि के नीचे नीचे सात घनोदधिके थर (तह) हैं। उन सातोंकी जाड़ाई समान रूप है। अर्थात एक सरीखी बीस बीस हजार योजन प्रमाण है और जो सात घनवात और सात तनवात के थर (तह) हैं वे सब असंख्यात योजन प्रमाणकी जाड़ाई वाले हैं। परन्तु परस्पर न्यूनाधिक हैं। जैसे-पहली नारकीका घनवात, तन वात असंख्यात योजन है। उस से दूसरी नरक भूमिके थर (तह) विशेषाधिक हैं एवं यावत् सातवीं नरक भूमि तकके घनवात और तनवात के थर (तह) की जाड़ाई विशेषाधिक, विशेषाधिक है और यही क्रम आकाशप्रदेश का है।

पहली नरक भूमि रत्न प्रधान होने के कारण उसे रत्नप्रभा नाम कहा गया है, इसी तरह दूसरी सर्करा में कंकरों की बाहुल्यता है तीसरी बालुका अर्थात् रेती की मुख्यता वाली है, चौथी पंक अर्थात् कीचड़ की प्रधानता वाली है, पांचवीं धूम अर्थात् धूम्र प्रधान है, छट्ठी तम अर्थात अन्धकार की विशेषता वाली है और सातवीं तमतमप्रभा अर्थात् प्रचुर अंधकार वाली है। इनके नाम अनुक्रम से घमा, वंसा, सेला, अंजना, रीष्टा, माघव्य और माघवती हैं।

रत्नप्रभा नारकीके तीन कांड (करंड) अर्थात् तीन विभाग हैं। पहला सब से ऊपरी विभाग खर कांड प्रचुर रत्नमयी है। उसकी मोटाई (जाड़ापन) १६००० हजार योजन प्रमाण है,

इसके नीचे दूसरा काड पंकबाहुल्य अर्थात् कर्दममय ८४००० हजार योजन प्रमाणकी मोटाईवाला है और इसके नीचे तीसरा भाग जलबाहुल्य अर्थात पानी से भरा हुआ है। जिसकी मोटाइ ८०००० योजन प्रमाण है। उक्त तीनों काढ सम्मिलित होने से पहली नरक भूमि की सम्पूर्ण मोटाई एकलाख अस्सीहजार योजन प्रमाण है। दूसरी नरक भूमि से यावत् सप्तमी नरक भूमि पर्यंत उपरोक्त विभाग नहीं हैं कारण उनमें कंकर और बालु आदि जो जो पदार्थ हैं वे सब सदेश रूप हैं। रत्नप्रभाका प्रथम काड दूसरे काड पर है, दूसरा काड तीसरे काड पर है और तीसरा काड घनोदधि और घनवात के ऊपर पर है। घनवात तनवात के ऊपर पर है और तनवात आकाश पर प्रतिष्ठित है और आकाश का स्वभाव ही ऐसा है कि उसे दूसरे की आवश्यक्ता नहीं रहती-स्वात्मप्रतिष्ठित है। सब पदार्थों को अवकाश देना आकाशका ही धर्म है। दूसरी नरक पृथ्वी के खण्ड (विभाग) नहीं है वह घनोदधि वलीये के आधारपर स्थित है। घनोदधि घनवात पर, घनवात तनवात पर, तनवात आकाश पर और आकाश स्वप्रतिष्ठित है। यही अनुक्रम यावत् सातवीं नरक पर्यन्त है। ऊपर की पृथ्वीसे नीचे नीचे की पृथ्वी का बाहुल्य (जाडाईपन) न्यून होते हुए भी आयाम, विष्कम (लम्बाइ, चौडाई) सब का अनुक्रम से अधिक अधिक है। इसलिये इनका संस्थान (आकार) छत्राति छत्र अर्थात् जामे के आकार है।

सातों नरक-भूमिका जितना जितना बाहल्यपन ऊपर कह आये हैं उसके ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोड़के शेष मध्य भागमें नरकावासा है, जिसमें नारकी जीव रहते हैं जैसे-रत्नप्रभा नारकी एकलाख अस्सीहजार योजनवाली है उसके

ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोड़ के शेष मध्यभाग के १७८००० योजन प्रमाण पृथ्वी पिंड नरकावासा है यही अनुक्रम सातों नरक भूमिका है. उन नरकवासों के घातक, मौचक, रौरव, रौद्र, पिष्टपचनी, लोहीकर और उष्ट्रिकादि अशुभाशुभनाम हैं-जिन के सुनते ही भय प्राप्त होता है। रत्नप्रभागत सीमंत नामक नरका वाससे यावत् महातम. प्रभागत अप्रतिष्टान नाम नरकावास पर्यन्त सब नरकावास छुरे के समान वज्रमय तलिये वाले हैं। परन्तु संस्थान सब का सदृश नहीं है वे भिन्न भिन्न आकारवाले हैं। कितनेक त्रिकोन, कितनेक चौकोन, कितनेक कुंभ, हलादि नाना-प्रकार के आकार वाले एक, दो, तीन मंजिलवाले मकान के समान प्रतरवाले हैं। इनकी संख्या अनुक्रम से यह है। रत्नप्रभाके तेरह प्रतर, शर्करप्रभाके ग्यारह प्रतर इसी तरह प्रत्येक नरक के दो दो प्रतर घटाने से ९-७-५-३-१ प्रतर हैं अर्थात् सातवीं नारकी में एकही प्रतर है। इनमें नारकी जीव रहते हैं।

नरकावासों की संख्या।

प्रथम नरक भूमि रत्नप्रभामें तीस लाख नरकावासा है, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख पांचवीं में तीन लाख, छट्ठी में ९९९९५ और सातवीं में केवल पांच नरका वासा हैं।

प्रश्न—प्रतरों में नरक है इसका क्या तात्पर्य ?

उत्तर—एक और दूसरे प्रतर का अवकाश अर्थात् अन्तर है उसमें नरक नहीं है किन्तु प्रत्येक प्रतरकी तीन तीन हजार योजन प्रमाण पृथ्वी पिंड है अर्थात् मोटाईपन है उसी में विविध प्रकार के नरक हैं।

प्रश्न—नरक और नारक का क्या सम्बन्ध है?

उत्तर—नारक जीव हैं और नरक उनके रहने का स्थान है अर्थात् नरक में रहने वाले या उत्पन्न होने वाले नारकी कहलाते हैं।

पहली नरक भूमिसे दूसरी नरकभूमि अशुभ है। इसी तरह यावत् सातवीं नरक भूमि अशुभ अशुभतर रचना वाली है और इन नरकों में रहनेवाले नारकी जीवों के भी परिणाम, लेश्या, देह, वेदना और क्रियादिभी उत्तरोत्तर अशुभ अशुभतर होती है।

लेश्या—रत्नप्रभा और शर्करप्रभा में कापोत लेश्या है परन्तु शर्करप्रभा की कापोत लेश्या रत्नप्रभाकी लेश्या से तीव्र सक्लेश वाली है, वालुप्रभा में कापोत और नील लेश्या, पंकप्रभा मे नील लेश्या, धूमप्रभा में नील और कृष्ण लेश्या, तम प्रभा में कृष्ण लेश्या और तम तम प्रभामें महा कृष्ण लेश्या है।

परिणाम—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्दादि अनेक प्रकार के पौद्गलिक परिणाम हैं वे सातों भूमि में उत्तरोत्तर अशुभ अशुभतर होते हैं।

शरीर—सातो भूमिके नरकोंका शरीर अशुभ नाम कर्म के उदयसे अधिक अधिकतर अशुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द और संस्थान वाले तथा अशुचि, बीभत्स अर्थात् घृणाजनक होते हैं।

वेदना—सातों नरकभूमि के नारकों की वेदना उत्तरोत्तर अधिक अधिकतर है। प्रथमकी तीन नरकभूमि में उष्णवेदना है चौथी में उष्ण शीत, पांचवीं मे शीतोष्ण, छट्ठी में शीत और सातवीं म अतिशीत वेदना होती है। उष्ण और शीतपने की वेदना इतनी तीव्र होती है कि इस वेदनाको भोगनेवाले नारकोंको यदि

मृत्युलोककी तीव्र से तीव्र उष्ण या शीत में रक्खा जायतो वह स्थान उनके लिये सुख प्रद है।

विक्रिय—उन नारकों की क्रिया भी उत्तरोत्तर अधिक अधिकतर अशुभ होती है। वे दुःख से व्याकुल होकर छूटने का प्रयत्न करते हैं परन्तु वह उनके लिये विशेष दुःखदाई होता है। जिसे वे सुख का साधन समझते हैं वह दुःखका साधन होता है और वैक्रिय लब्धिसे शुभ बनाने की इच्छा करते हैं तथापि उनका बनाया हुआ अशुभ ही होता है।

प्रश्न—लेश्यादि अशुभभावोंको नित्य कहा इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—नित्य का अर्थ निरन्तर है। गति, जाति, शरीर और अंगोपांग नामकर्मके उदयसे नरकगति में लेश्यादि भाव जीवन-पर्यन्त अशुभही बने रहते हैं। क्षण भरके लिये भी किसी समय अन्तर नहीं पड़ता। ये परिणाम पल भरके लियेभी शुभ भाव को प्राप्त नहीं होते।

प्रथम तो नरक में शरदी गरमी का दुःख भयंकर रूप से होता है इससेभी भूख और प्यास का दुःख अति भयंकर है। भूख का दुःख इतना अधिक है कि जितना अधिक आहार लेते हैं उतनी हीं भूख अग्नि के समान जाज्वल्यमान होती जाती है। किन्तु शान्ति प्राप्त नहीं होती। इसी तरह पियास काभी भयानक दुःख है। इससे भी अधिक दुःख उन्हें परस्पर के वैरभाव से उत्पन्न होता है। जैसे—बिल्ली और चूहे के या सर्प और नौलीये (नौरा) के जन्म से ही शत्रुता होती है इसीतरह उनके भी जन्म शत्रुता है। इसलिये कुत्ता के समान परस्पर नित्य लड़ाकरते हैं और भयानक दुःख उपार्जित करते हैं।

नरक में तीन प्रकार की वेदना है जिसमे क्षेत्रजन्य और परस्पर से उत्पन्न होने वाली वेदना का वर्णन पहले कर चुके जो सातों नरक भूमि में समान रूप है। अब तीसरी परमाधामी जनित वेदना बताते हैं जो केवल प्रथम तीन (१-२-३) नरक भूमिकाओं में होती है और इन्हीं तीन नरक भूमिकाओं के अन्तरों में वे परमाधामी देव निवास करते हैं। वे एक प्रकार के असुर देव हैं स्वभाव से अति क्रुर और पापरत होते हैं। इनकी अब, अबरस इत्यादि पन्द्रह जाति हैं। वे स्वभाव से इतने निर्दयी और कुतूहली होते हैं कि इन्हें दूसरों को सताप देने में या पीडा पहुचाने में ही आनन्द प्राप्त होता है इसलिये वे नारकी के जीवों को नाना प्रकार के प्रहारादि से अनेक प्रकार के दु ख दिया करते हैं। वे कुत्ते, साड या पहलवानों के समान उन नारकी जीवों को हमेशा लडाया करते ह और उन्हें लडते हुए देख कर आनन्दित होते ह उन परमाधामी देवों के लिये और भी अनेक सुख साधन है तथापि पूर्वजन्म कृत तीव्र दोष के उदय से वे दूसरों को सताप देने में ही विशेष प्रसन्न रहते ह। नारकी के जीव बेचारे कर्मवश अशरण होके आजन्म पर्यन्त तीव्र वेदना सहन करते है। इन्हें कितनी ही वेदना क्यों न हो परन्तु किसी की भी शरण नहीं है और न उनका आयुष्य अपवर्तनीय (न्यून होने वाला) है कि जिस से दु ख जल्दी समाप्त हों अर्थात् वे परिमित आयुष्य वाले होते है।

स्थिति—चारों गति के जीवों की स्थिति अर्थात् आयुष्य मर्यादा जघन्य, उत्कृष्ट दो प्रकार की होती है न्यून को जघन्य और अधिक को उत्कृष्ट कहते ह प्रस्तुत सूत्र उत्कृष्ट स्थिति विषयी है। जघन्य स्थिति आगे अ० ४ सूत्र ४३—४४ में कहेंगे

पहले नरक में उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है, दूसरी में तीन सागरोपम, तीसरी में सात सागरोपम चौथी में दस सागर०, पांचवीं में सत्रह सागर०, छट्टी में बाईस सागर०, और सातवीं में तैंतीस सागरोपम की है।

उपरोक्त सूत्रानुसार विशेष रूप से वर्णन किया गया है। पुनरपि विशेष ज्ञान प्राप्ति के लिये गति, आगति और द्वीप समुद्र की व्याख्या करते हैं।

गति—वर्तमान आयुष्य को पूर्ण करके जिस गति में उत्पन्न हो सके उसे गति कहते हैं। असंज्ञी जीवों की गति पहली नरक भूमि पर्यन्त है। आगे दूसरी आदि नरक भूमि में वे उत्पन्न नहीं होसकते, भुजपरि सर्प की गति पहली और दूसरी नारकी, पक्षी तीसरी नरक भूमि, सिंह चौथी नरक भूमि, सर्प पांचवीं नरक भूमि, स्त्री छट्टी नरक भूमि और मत्स तथा मनुष्य मरके सातवीं नरक पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य, तिर्यंच मरके नारकी में उत्पन्न होते हैं परन्तु देवता, नारकी मरके नारकी में उत्पन्न नहीं होते क्योंकि देवों में संक्लिष्ट अध्यवसाय का अभाव है। नारकी मरके तद्भव देवगति में भी उत्पन्न नहीं होता किन्तु मनुष्य या तिर्यंच में ही उत्पन्न होता है।

आगति—प्रथम की तीन नरक भूमि के नारकी आयुष्य पूर्ण करके यदि मनुष्य गति प्राप्त करेतो उत्कृष्ट तीर्थंकर पद की योग्यतावाले हो सकते हैं, चौथी नरक भूमि के नारकी मनुष्यत्व पाकर निर्वाणपद प्राप्त कर सकते हैं, पांचवीं नर्क भूमि का जीव मनुष्यगति पाकर सर्वविरती संयम प्राप्त कर सकता है, छट्टी नरक भूमि से निकला हुआ नारकी मनुष्यत्व को पाकर देशविरती की योग्यता प्राप्त कर सकता है और सातवीं नरक भूमि से

निकला हुआ नारकी मनुष्यत्व को पाकर सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। सातों नरक भूमि के नारकी यदि मनुष्यगति को प्राप्त करें तो किस हद तककी योग्यता को पा सकता है उसी का यह दिग्दर्शन है।

द्वीप समुद्र—रत्नप्रभा नरक भूमि को छोड़ के शेष छओं नरक भूमि में द्वीप, समुद्र, पर्वत, ग्राम, नगर, वृक्ष, लता, बादर वनस्पति द्विन्द्रिय यावत् पचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य नहीं हैं और रत्नप्रभा नारकी को छोड़कर न किसी प्रकार के देवता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस नरक भूमि का किंचित् ऊपरी भाग मध्यलोक सम्मिलित है कारण मेरु पर्वत की समतल भूमि से नवसौ योजन ऊंडी (गहरी) सलीलावती नामक विजय है, जिसमें उपरोक्त द्वीप, समुद्र, देवादि पाए जाते हैं। शेष नरक में इनका अभाव है यहां केवल नारकी और सूक्ष्म पचेन्द्रिय जीव ही पाये जाते हैं यह सामान्य नियम है परन्तु किसी अपेक्षा से तीसरी नरक पर्यंत मनुष्य, तिर्यंच और देवता भी पाये जाते हैं क्योंकि कारणवशात् वैक्रियलब्धि से उनका आवागमन होता है इससे आगे वे नहीं जासकते जैसे-पूर्वजन्म की मित्रता के कारण स्नेह से प्रेरित होके उस नारकी को अत्यन्त दुःखों से मुक्त करने के लिये जाते हैं और केवली समुद्घात की अपेक्षा सर्व लोक व्यापी आत्मप्रदेश होते हैं इस लिये इन्हें जगतव्यापी मानते हैं।

परमाधामीदेवों को नरकपाल भी कहते हैं उनका जाना तीसरी नरक पर्यन्त आनाजानाहोता है और व्यन्तर, वाणव्यन्तर देव पहली नरक भूमि में ही होते हैं॥ १-६॥

॥ मध्यलोक वर्णन ॥

जम्बूद्वीप लवणादय शुभनामानो द्वीप समुद्रा ॥ ७ ॥

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्व परिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्र विष्कम्भो जम्बूद्वीपः॥६

तत्र भरत हेमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधर पर्वताः ॥ ११ ॥

द्विर्धातकीखण्डे ॥ १२ ॥

पुष्करार्धेच ॥ १३ ॥

प्राक् मनुष्योत्तरान् मनुष्याः ॥ १४ ॥

आर्याम्लेच्छाश्च ॥ १५ ॥

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः॥१६॥

नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ १७ ॥

तिर्यग्योनीनांच ॥ १८ ॥

अर्थ—जम्बूद्वीप आदि शुभ नामवाले द्वीप और लवणादि शुभ नामवाले समुद्र हैं ॥ ७ ॥

ये द्वीप समुद्र एक दूसरे से द्विगुण द्विगुण विस्तार वाले तथा पूर्व पूर्व के द्वीप समुद्र पर पर के द्वीप समुद्र से वेष्टित हैं, " घिरेहुवे " और वलयाकार=चूड़ी के आकार :गोल हैं ॥ ८ ॥

इन द्वीप समुद्रों के मध्यभागमें लक्ष योजन विस्तार

वाला जम्बूद्वीप है जिसमें नाभि के समान वृत्ताकार मेरु पर्वत है ॥ ९ ॥

इस जम्बूद्वीप में भरत, ऐरवत् हेमवत्, हरिवर्ष, विदेह, रम्यक् हैरण्यवत् ये सात वर्ष घर क्षेत्र हैं ॥ १० ॥

इन भरतादि क्षेत्रों का विभाग करने के लिये पूर्व, पश्चिम आयाम (लम्बाई) वाले हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी एवं छ वर्षधर पर्वत कहलाते हैं ॥ ११ ॥

जम्बूद्वीप के पर्वत, क्षेत्रों से धातकी खंड के पर्वत् क्षेत्र द्विगुण संख्या वाले हैं ॥ १२ ॥

पुष्करार्द्ध में भी पर्वत, क्षेत्र धातकी खंड के समान हैं॥१३॥

मनुष्योत्तर पर्वत के पूर्व भाग में जो द्वीप हैं उनमें मनुष्य रहते हैं ॥ १४ ॥

वे मनुष्य आर्य्य और म्लेच्छ दो प्रकार के हैं ॥ १५ ॥

देवकुरु, उत्तरकुरु आदि को छोड़के भरत, ऐरवत और विदेह कर्म भूमि हैं ॥ १६ ॥

मनुष्यों का आयुष्य जघन्य अन्तर मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम का है ॥ १७ ॥

तिर्यंचों का आयुष्य भी मनुष्यों के समान है ॥ १८ ॥

विवेचन—मध्यलोक की आकृति झालर के समान कही है इसमें असंख्यात द्वीप समुद्र हैं वे द्वीप के पश्चात् समुद्र और समुद्र के पश्चात् द्वीप इस अनुक्रम से विद्यमान हैं उनकी व्यास रचना और आकृति का वर्णन करते हुए उक्त सूत्रों द्वारा मध्यलोक का आकार प्रदर्शित करते हैं।

व्यास—जम्बूद्वीप का पूर्व, पश्चिम और उत्तर, दक्षिण

विस्तार एक लक्ष योजन का है, लवणसमुद्र का विस्तार इससे दूना अर्थात् दो लक्ष योजन का है। धातकीखंड का विस्तार इससे भी दुगुना अर्थात् चार लक्ष योजन का है, इसी प्रकार कालोदधि आदि आगे आगे के जितने द्वीप समुद्र हैं वे क्रमशः एक दूसरे से दुगने दुगने हैं तात्पर्य यह है कि जम्बूद्वीप से यावत् स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त जो असंख्याते द्वीप समुद्र हैं वे क्रमशः एक दूसरे से दुगने विस्तार वाले हैं। सब द्वीप समुद्रों के अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र है, वह असंख्यात योजन प्रमाण विस्तार वाला है उसके परे पूर्वोक्त तीन वलियें और अलोकाकाश है।

रचना—जम्बूद्वीप थाली के समान या चाक के समान अथवा चक्रवत् गोलाकार है और लवणसमुद्र से वेष्टित है, लवण समुद्र धातकीखंड से वेष्टित है, धातकीखंड कालोदधि से, कालोदधि पुष्करवर द्वीप से और पुष्करवर द्वीप पुष्करोदधि समुद्र से, यही अनुक्रम यावत् अन्त के स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त समझलेना।

आकृति—जम्बूद्वीप थाली के समान गोल है, और दूसरे असंख्याते द्वीप समुद्र हैं वे चूड़ी के आकार गोल आकृति वाले हैं॥ ७-८॥

जम्बूद्वीप और मुख्य पर्वत, क्षेत्र-सम्पन्न द्वीप, समुद्रों से वेष्टित और मध्यवर्ती द्वीप को जम्बूद्वीप कहते हैं यह सबसे पहला, थाली के समान लक्ष योजन विस्तार वाला है लवण समुद्र के समान वलयाकार नहीं है अर्थात् कुम्हार की चाक के समान है और इस जम्बूद्वीप के मध्यभाग में मेरु पर्वत है इस की ऊंचाई एक लक्ष योजन है इस के समान ऊंचाई वाले दूसरे पर्वत नहीं है अन्य द्वीपों में और भी चार मेरु पर्वत हैं परन्तु उनकी ऊंचाई जम्बूद्वीप के मेरु से किंचित् न्यून है इसे सुमेरु भी कहते

है। अर्थात् तिरछे लोक मे इस के समान ऊंचाई वाले पर्वत नहीं है। १ लक्ष योजन की ऊंचाई में एक हजार योजन पृथ्वी में रहा हुआ है शेष ६६ हजार योजन पृथ्वी के ऊपर है पृथ्वी के भीतरी भाग की लम्बाई चौडाई सब जगह दश हजार योजन है और जो पृथ्वी का बाहरी भाग है उस के सर्वोपरी अश को चूलिका कहते हैं उसका तला एक हजार योजन विस्तार वाला है यह पर्वत चार वनों से घिरा हुआ है और इसके तीन विभाग हैं, अर्थात् पहला भाग एक हजार योजन पृथ्वी में है, दूसरा भाग त्रेसठ हजार योजन और तीसरा भाग छत्तीस हजार योजन पृथ्वी के उपर है पहले भाग में शुद्ध पृथ्वी और कंकरादि हैं, द्वितीय भाग में चांदी और शर्करादि हैं तथा तृतीय भाग में स्वर्णादि है भद्रसाल, नदन, सोमनस और पाडुक नाम के चार वन हैं लाख योजन की ऊंचाई के पश्चात् सब से ऊपरी भाग में एक चूलिका (चोटी) है जो प्रमाण से चालीस योजन ऊंची है उसका मूल भाग बारह योजन, मध्यभाग आठयोजन और उर्द्ध भाग चार योजन विस्तार वाला है ॥ ६ ॥

जम्बूद्वीप में मुख्य सात क्षेत्र हैं उन को वर्ष वर्ष या वास क्षेत्र कहते हैं जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में १ भरत क्षेत्र भरत क्षेत्रसे उत्तर २ हेमवत्, हेमवतसे उत्तर ३ हरिवर्ष, हरिवर्षसे उत्तर ४ विदेह, विदेहसे ५ रम्यक्, रम्यकसे ६ हिरण्यवत और उससे ७ ऐरवत +इस तरह उपरोक्त क्षेत्र एक एक से उत्तरीय हैं। व्यवहार से दिशाओं का यह नियम है कि सूर्य उदय को पूर्व दिशा नाम देकर शेष दिशायें नियत की गई हैं इस नियम के अनु सार सातों क्षेत्रों मे मेरु उत्तर भाग में ही रहता है ॥ १ ॥

+समवायांग सूत्र के सातवें समवाद में भी सातही वासक्षेत्र कहे हैं।

सातों क्षेत्रों को पृथक करने के लिये छ पर्वत हैं वे वर्ष-धर कहलाते हैं इनकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम की ओर है, भरत और हैमवत के मध्यवर्ती अर्थात इनका विभाग करने वाला हिमवान पर्वत है इसी तरह हैमवत और हरिवर्ष क्षेत्र को पृथक करने वाला महा हिमवान पर्वत है, हरिवर्ष और विदेह को निषधपर्वत, विदेह और रम्यक को नील पर्वत, रम्यक और हिरण्यवन को रुक्मि पर्वत और हिरण्यवत तथा ऐरवत को पृथक करने वाला शिखरी पर्वत है उपरोक्त पर्वतों से सात क्षेत्र विभाजित माने गये हैं ये पर्वत उनक्षेत्रों के मध्मवर्ती हैं ॥११॥

❀ धातकी खण्ड और पुष्करार्द्ध द्वीप ❀

जम्बूद्वीप की अपेक्षा से धातकी खंड में मेरू, पर्वत और वर्षधर दुगुने हैं अर्थात दो मेरू, चौदह वर्षक्षेत्र और बारह वर्षधर पर्वत सदृश नाम वाले हैं अर्थात् जो नाम जम्बू-द्वीप के पर्वत क्षेत्रों के हैं वेही नाम धातकी खण्ड के पर्वत क्षेत्रों के हैं वलयाकृत धातकी खंड के पूर्वार्द्ध, पश्चिमार्द्ध दो बिभाग हैं प्रत्येक विभाग में एक एक मेरू सात सात वर्षक्षेत्र और छ छ वर्षधर पर्वत हैं उक्त दोनों विभागों के मध्य में उत्तर, दक्षिण विस्तार वाले हैं बाण के समान सीधे दो पर्वत हैं और उन्हीसे दो विभागों की कल्पना होती है उन दो विभागों में पूर्व, पश्चिम विस्तार वाले छ छ वर्षधर पर्वत और सात सात वर्ष क्षेत्र हैं तथा उनके मध्य में एक एक मेरू है इसका भीतरी भाग लवणसमुद्र और बाहरी भाग कालोदधि समुद्र से स्पर्शित है। छ छ वर्षधर पर्वत मानों गाडी के पहियों में लगेहुए आरों के समान हैं और मध्यभाग में भरतादि सात क्षेत्र हैं ॥ १२ ॥

मेरू, वर्ष और वर्षधरों की संख्या और रचना जो धातकी

खड की बताई गई है। यही पुष्करार्द्ध द्वीप का है। एक जम्बूद्वीप एक धातकी खड और अर्द्ध पुष्करद्वीप मिलके अढाई द्वीप कहलाते है। प्रस्तुत अध्याय सूत्र १० के अनुसार इनमे कुल पाच मेरु, तीस वर्षधर पर्वत और पंतीस वर्षक्षेत्र है। जिनमे पाच भरत, पाच ऐरवत और पाच महाविदेह एवम् पन्द्रह कर्मभूमि कहलाता है यहा असी, मसी, कसी, आदि कर्म व्यापार है अथवा कर्मरूपी मल को दूर करके मोक्षपद प्राप्त करने योग्य कर्म सिद्धि की यही भूमि है अन्य स्थानों में इसका अभाव है इसलिये यह कर्मभूमि कहलाती है। पाच हैमवत, पाच हरिवर्ष, पाच रम्यक् और पाच हैरण्यवत् एवम् बीस अकर्म भूमि कही है परन्तु अन्य शास्त्रकारों मे तीस अकर्म भूमि कह के पैंतालीस वर्षक्षेत्र अर्थात् मनुष्य के वासस्थान बताये है प्रस्तुत सूत्रकार ने जो पतीस ही वासस्थान कहे है इसका तात्पर्य यह है कि वे महाविदेह के पूर्व, पश्चिम दो विभाग है उन दो विभागों के मध्य में अर्थात् मेरु पर्वत् के दोनों तरफ देवकुरू, उत्तरकुरू दो युगलिक क्षेत्र है उनको विदेह क्षेत्र में मान के पतीस ही वर्ष क्षेत्र बताये है यथार्थ में देवकुरू, उत्तरकुरू अकर्म भूमि है और इसी अध्याय के सूत्र १६मे इनको पृथक करके भरत, ऐरवत और महाविदेह को कर्मभूमि कहा है॥ १३॥

पुष्करवर द्वीप में जो मानुष्योत्तर नामक पर्वत है वह चूडी के आकार गोल और पुष्करवर द्वीप के ठीक बीचोंबीच शहर पनाह के समान घिरा हुआ है इसी कारण द्वीप के दो विभाग होगये है भीतरी भाग में मनुष्यों का वासस्थान है और इसी कारण इस पर्वत् का मानुषोत्तर नाम रखा है। इसके भीतरी भाग में अर्द्ध पुष्करवर द्वीप, कालोदधि समुद्र, धातकी खड, लवण समुद्र और जम्बूद्वीप यथाक्रम से हैं। इन क्षेत्रों में मनुष्यों का जन्म मरण

होता है इसलिये इसको मनुष्य लोक कहते हैं और इसकी सीमा रखने वाले पर्वत को मनुष्योत्तर पर्वत कहते हैं। इस पर्वत के परे जितना क्षेत्र है उसमें मनुष्यों का जन्म मरण नहीं होता वहां केवल विद्यासंपन्न मुनि या वैक्रिय लब्धि वाले मनुष्यों का ही आवागमन होता है। परन्तु जन्म मरण नहीं होता उनके जन्म मरण का स्थान मनुष्य लोक ही है।

मनुष्यों की स्थिति क्षेत्रादि।

उपरोक्त मनुष्योत्तर पर्वत के भीतरी भाग में अढ़ाई द्वीप, दो समुद्र हैं उसको मनुष्य लोक कहा है परन्तु वास्तविक रूप से मनुष्यों का जन्म मरण सब जगह नहीं होता उनका स्थान अढ़ाई द्वीप के अन्दर केवल पूर्वोक्त पैंतीस क्षेत्र और छप्पन्न अन्तर द्वीप है संहरण या विद्यालब्धि द्वारा अढ़ाई द्वीप में सब जगह जन्म मरण पाया जाता है और मानुष्योत्तर पर्वत के परे रुचकवर द्वीप पर्यन्त केवल आवागमन होता है और उर्द्ध मेरु की चूलिका पर्यन्त जाते हैं परन्तु जन्म मरण वहां नहीं होता। उन रूचकादि क्षेत्रों में गये हुए मनुष्यों के नाम भारतीय, धातकीखंडीय इत्यादि क्षेत्रों के नाम से व्यवहृत किये जाते हैं॥ १४॥

मनुष्यों के मुख्य दो भेद हैं एक आर्य और दूसरे म्लेच्छ। निमित्त भेद से आर्य छ प्रकार के माने गये हैं। (१) क्षेत्रार्य, (२) जाति आर्य, (३) कुलार्य, (४) कर्मार्य, (५) शिल्पार्य, (६) भाषार्य।

क्षेत्रार्य—पन्द्रह कर्मभूमि में भरत, ऐरवत के २५५ देश और पंच महाविदेह की एक सौ साठ चक्रवर्ती विजय ये आर्य संज्ञक देश कहे जाते हैं इन क्षेत्रों में जन्मे हुए मनुष्यों को क्षेत्रार्य कहते हैं।

जाति आर्य—जैसे-इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, अम्बष्ठ ज्ञात, कुरू, बुबनाल, उग्र, भोग और राजन्य आदि इन जातियों म उत्पन्न होनेवाले मनुष्य जाति आर्य कहलाते हैं।

कुलाय—जैसे-कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और सप्त कुलकरों मे प्रथम के तीन छोड के शेष चार कुलकर और भी जिनका विशुद्धकुल और प्रकृति है वे सब कुलार्य सज्ञक हैं।

कर्मार्य—जैसे-यजन, याजन अर्थात् यज्ञ (पूजन) करना, कराना तथा पठन, पाठनादि प्रयोग करने वाले अथवा कृषि, लिपि, वाणिज्यादि से आजीविका करने वालों को कर्मार्य कहते ह।

शिल्पार्य—जैसे-अल्पपाप या अनिन्दित कार्य करके आ जीविका करने वाले, ततुवाय (कपडा बुनने वाले) तनुवाय (सूत कातनेवाले) अथवा अन्य अनेक प्रकार की शिल्प कलाओं को जानने वालो को शिल्पार्य कहते हैं।

भाषार्य—जैसे—तीर्थंकर, गणधर आदि जो अतिशय सपन्न पुरुष हैं वे शिष्ट पुरुष कहलाते है, उनकी मान्य भाषा सस्कृत, प्राकृत, अर्द्धमागधी इत्यादि लोक प्रसिद्ध जो आर्य व्यवहार में लाते हैं उसे भाषार्य कहते हैं। इस से विपरीत को म्लेछ कहते हैं।

इस व्याख्या से ३० अकर्मभूमि और छप्पन अन्तर द्वीप के रहने वाले युगल मनुष्य भी म्लेछ ही में समिलित होते हैं और प्रस्तुत शास्त्र के भाष्य में स्पष्ट उल्लेख है कि छप्पन अन्तर द्वीप के रहने वाले मनुष्य म्लेछ हैं परन्तु अन्य शास्त्रों मे केवल पन्द्रह कर्म भूमि के मनुष्य ही आर्य, म्लेछ सज्ञा से सबोधित किये गये हैं। तीस भोग भूमि और छप्पन अन्तर द्वीप अकर्म भूमि हैं इनमे रहने वाले मनुष्यों में उक्त (आर्य, अनार्य) सज्ञा नहीं मानी है म्लेच्छ सज्ञा केवल कर्म भूमि के अनार्य देशों म उत्पन्न होने वाले मनुष्यों

की अपेक्षा से मानी गई है उसे-शक, यवन, कंबोज, शबर, बबर, पुलिंदादि देशों में रहने वाले मनुष्य। जीवाभिगम सूत्र में छप्पन द्वीप को अकर्म भूमि कहा है यथा—

"अन्तरद्दीवग अकम्मभूमग मणुस्सित्थी—
णं भंते · · · · · इत्यादि"

और भाष्यकार इन द्वीपों के मनुष्यों को विजातिय कहते हैं ॥ १५॥

कर्मभूमि निर्देश

जिन क्षेत्रों में मोक्ष मार्ग के जानने वाले और उसके उपदेशक तीर्थंकरादि उत्पन्न होते हों उन्हें कर्मभूमि कहते हैं। अढ़ाई द्वीप में पैंतीस क्षेत्र और छप्पन अन्तर द्वीप हैं यही मनुष्य उत्पत्ति के स्थान हैं।

प्रश्न—अन्तर द्वीप कहां हैं ?

उत्तर—हिमवत् और शिखरी पर्वत् के दोनों किनारे लवण समुद्र को स्पर्श किये हुवे हैं उन किनारों में दो, दो शाखायें हाथी के दो दांतों के समान निकली है उसे गजदन्त भी कहते है वे लवण समुद्र के ऊपर स्थित है। अर्थात् हिमवान पर्वत् की चार शाखायें और शिखरी पर्वत की चार शाखायें एवम् आठ गजदन्त कहलाते हैं उन प्रत्येक गजदन्तों पर सात, सात द्वीप हैं वे अन्तर द्वीप कहलाते हैं। जम्बूद्वीप की जगती से तीन सौ योजन दूर अर्थात् लवण समुद्र के पानी पर तीन सौ योजन दूर जाने पर तीन सौ योजन के आयाम् विष्कंभवाला एक अन्तर द्वीप है इसीतरह जगती से चारसौ योजन की दूरीपर चारसौ योजन के आयाम विष्कंभ वाला तथा पांच सौ योजन की दूरीपर पांच सौ योजन के आयाम विष्कंभ वाला, छ सौ योजन की दूरीपर छ सौ योजन के आयाम विष्कंभ वाला यावत् नौ सौ योजन की दूरीपर नौ सौ योजन के आयाम विष्कंभ वाला सातवां अन्तर द्वीप है। इसीतरह एक २

गजदन्त पर सात सात द्वीप समान्य आयाम विष्कभवाले विद्यमित है। हिमवान पर्वत के चार गजदन्तों पर जिस नाम के अठाईस अन्तर द्वीप हैं उसी नाम के २८ अन्तर द्वीप शिखरी पर्वत के ४ चार गजदन्तों पर है और जिस नाम के ये द्वीप है उसी प्रकार के वहा मनुष्य निवास करते है जैसे-(१) एकोरूप+ (२) लांगुल (३) वेषाणिक (४) अभाषक उक्त चारों द्वीप लवण समुद्रमें जगती से तीन सौ योजन दूर तीन सौ योजन अयम विष्कंभ वाले है इसीतरह चारसौ योजन के दूरीपर हयकर्ण, गजकर्ण, गौकर्ण, शष्कुलीकर्ण, पाच सौ योजन पर गजमुख व्याघ्रमुख, आदर्शमुख, गौमुख वाले छ सौ योजन की दूरीपर अश्वमुख, हस्तिमुख, सिंहमुख, व्याघ्रमुख वाले, सातसौ योजन की दूरीपर अश्वकर्ण, सिंहकर्ण, हस्तीकर्ण, कर्णप्रवारण, आठ सौ योजन की दूरीपर उल्कामुखा, विद्युजिव्हा मेघमुख, विद्युद्दतों वाले और नवसौ योजन की दूरीपर नौ सौ योजन के विस्तारवाले घनदन्त, गूढदन्त, विशिष्टदन्त तथा शुद्धदन्त नाम के चार द्वीप हैं प्रथम २८ अन्तर द्वीप हिमवान पर्वत के चार गजदन्तों पर और अठाईस अन्तर द्वीप शिखरी पर्वत के चार गजदन्तो पर है इनको अन्तर द्वीप कहते है।

उत्तरकुरू, देवकुरू को छोड़ के पाच भरत, पाच ऐरवत और पाच महाविदेह को कर्मभूमि कहते हैं शेष तीस क्षेत्र और छप्पन अन्तर द्वीप अकर्मभूमि है देवकुरू, उत्तरकुरू महाविदेह के सम्मिलित है तथापि वह अकर्मभूमि है। जहा युगलियो का निवास और युगलिक धर्म हो उसे अकर्मभूमि कहते हैं वहा चारित्रादि धर्म कदापि सम्भवित नहीं होता ॥ १६ ॥

+ जीवाभिगम सूत्र में युगल मनुष्यों के शरीर का वर्णन विस्तार से किया जिन्हों की सुन्दरता अलौकिक बतलाई है।

मनुष्य तिर्यंचों की स्थिति ।

मनुष्य की उत्कृष्ट स्थिति (जीवनकाल) तीन पल्योपम की और जघन्य स्थिति अन्तर मुहूर्त प्रमाण की है इसी तरह तिर्यंचों की भी जघन्य, उत्कृष्ट स्थिति समझलेनी अर्थात् मनुष्यों के समान उत्कृष्ट ३ पल्योपम और जघन्य अन्तर मुहूर्त्त की स्थिति है।

पुनः स्थिति दो प्रकार की है (१) भव स्थिति, (२) काय स्थिति जो प्राणी अपने जघन्य या उत्कृष्ट आयुष्य प्रमाण से जीवित रहे उसे भव स्थिति कहते हैं और वही प्राणी दूसरी जाति में जन्म न लेकर वारंवार उसी उसी जाति में जन्म मरण करे उसे काय स्थिति कहते है अर्थात् एक ही जाति में वारंवार पैदा होना काय स्थिति है। मनुष्य और तिर्यंच की उपरोक्त स्थिति बताई है उसे भवस्थिति कहते हैं। जघन्य कायस्थिति मनुष्य और तिर्यंच की भवस्थिति के समान अन्तर मुहूर्त है परन्तु उत्कृष्ट काय स्थिति मनुष्य की सात, आठ भव है अर्थात् मनुष्य मनुष्य जाति में लगातार (वारंवार) सात, आठ वार जन्म ग्रहण कर सकता है पश्चात् अपनी जाति को छोड़ के अवश्य अन्य जाति में जाना पड़ता है।

समस्त तिर्यंचों की भवस्थिति और कायस्थिति एक समान नहीं है इस लिये किंचित् विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं पृथ्वीकाय की उत्कृष्ट भवस्थिति (आयुष्य) बाईसहजारवर्ष प्रमाण है, अपकाय की सातहजारवर्ष, वायुकायकी तीनहजारवर्ष, और तेउकाय की तीन अहोरात्रि की उत्कृष्ट भवस्थिति है और उत्कृष्ट कायस्थिति इनकी असंख्यात काल असंख्याती अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी की है। वनास्पतिकाय की उत्कृष्ट भवस्थिति दशहजारवर्ष

की और उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्त काल प्रमाण की है, द्वीन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति बारहवर्ष की, तेरिन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति (४६) अहोरात्रि की और चौरिन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति छ मास प्रमाण की है तथा इन तीनों की उत्कृष्ट कायस्थिति सख्यातहजारवर्षों की हे तिर्यचपचेन्द्रिय गर्भज और समुर्छम दो प्रकार के होते हैं इन दोनों की भवस्थिति पृथक् पृथक् हे गर्भजजलचर, गर्भजउरपरि, गर्भजभुजपरि इन की उत्कृष्ट भवस्थिति पूर्व क्रोड वर्ष की हे तथा खेचरों (पक्षियों) कीउत्कृष्टभवस्थितिपल्योपम के असख्यातवें भागकी और स्थलचर (चार पाव वाले जानवरों) की उत्कृष्ट भवस्थिति तीनपल्योपमकी है। समुछम जलचर की उत्कृष्ट भवस्थिति (आयुष्य) पूर्व क्रोड वर्ष की, उरपरि की ५३ हजार वर्ष, भुजपरि की ४२ बयालीसहजार वर्ष, पक्षियों की ७२ हजारवर्ष, स्थलचर की चौरासीहजारवर्ष की उत्कृष्ट भवस्थिति है और पचेन्द्रियतिर्यचों की उत्कृष्ट कायस्थिति सात, आठ भव भ्रमण रूप है तथा समुर्छम तियचपचेन्द्रिय की उत्कृष्ट कायस्थिति सात भव भ्रमण की है। विशेषाधिकार पन्नवणा सूत्र में है ॥ ७-१८ ॥

इति तत्वार्थ सूत्र तीसरा अध्याय हिन्दी अनुवाद समाप्तम् ।

चौथा अध्याय।

तीसरे अध्याय में नारकी, मनुष्य और तिर्यंचों का वर्णन किया गया है अब प्रस्तुत अध्याय में देवताओं का वर्णन करते हैं।

देवों के भेद।

देवाश्चतुर्निकायाः ॥ १ ॥

अर्थ—देवता चार निकाय " प्रकार " के होते हैं ॥ १ ॥

विवेचन—एक प्रकार के समूह या जाति को निकाय कहते है। देवों के चार निकाय हैं (१) भवनवासी (२) व्यांतर (३) ज्योतिषी (४) वैमानिक ॥ १ ॥

तीसरे निकाय की लेश्या।

तृतीयः पीतलेश्याः ॥ २ ॥

अर्थ—तीसरे निकाय वाले पीत लेशी हैं ॥ २ ॥

विवेचन—पूर्वोक्त चार निकाय के देवों में तीसरी निकाय ज्योतिष्कदेवों का है वे तीसरे निकाय वाले " ज्योतिष्क " देव केवल पीत अर्थात् तेजो लेश्या वाले होते हैं [१]लेश्या का अर्थ यहां द्रव्यलेश्या अर्थात् शारीरिक वर्ण से है किन्तु अध्यवसायरुप भावलेश्या नहीं, भाव लेश्या तो चारों निकाय के देवों में छओं प्रकार की होती है ॥ २ ॥

चार निकाय के भेद।

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पा कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥

---

१ लेश्याके विशेष स्वरुप का वर्णन देखना हो तो देखो हिन्दी चौथे कर्म ग्रन्थ का परिशिष्ट पृष्ट ३३

अर्थ—कल्पोत्पन्न पर्यन्त चारनिकायके देवता अनुक्रम से दश, आठ, पाच और बारह भेद वाले होते हैं ॥ ३ ॥

विवेचन—पूर्वोक्त चार निकाय देवों के अनुक्रम से भुवन पतिके दश, व्यन्तरके आठ, ज्योतिष्कके पांच, और वेमानिक के बारह भेद होते हैं। सूत्रकारने जो कल्पोत्पन्न पर्यन्त कहा उसका तात्पर्य यह है कि वेमानिक देवों के दो भेद हैं। (१) कल्पोत्पन्न (२) कल्पातीत (अ० ४ सू० १८) इनमें से उक्त भेद कल्पोत्पन्न के ही समझने चाहिये सौधम से यावत् अच्युत पर्यन्त बारह देवलोक कल्प कहलाते हैं, और ऊपर के कल्पातीत हैं, इनका वर्णन आगे करेंगे ॥ ३ ॥

चार निकाय के अवान्तर भेद।

इन्द्रसामानिकत्रायास्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्य किल्विषिका श्चैकश' ॥ ४ ॥

त्रायस्त्रिंश लोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्का: ॥ ५ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त चार निकायों में प्रत्येक निकाय में इन्द्र, सामानिकादि एकेक भेद करके उक्त दस भेद होते हैं (१) इन्द्र (२) सामानिक (३) त्रायस्त्रिंशक (४) परिषद (५) आत्मरक्षक (६) लोकपाल (७) अनीका (८) प्रकाण (९) अभियोग (१०) किल्विषिक ॥ ४ ॥

व्यान्तर तथा ज्योतिष्क देव त्रायस्त्रिंश और लोकपाल रहित होते हैं ॥ ५ ॥

विवेचन—भवनपति के देव आसुरादि दसप्रकार के हैं वे प्रत्येक सूत्रोक्त दश दश भेद सहित होते हैं उक्त दश भेदों में (१)

जो स्व स्व निकायके देवोंका अधिपति होता है उसे इन्द्र कहते हैं (२) सामानिक जो आयुपादि में इन्द्रके समान हो और आमत्य पिता गुरु उपाध्यायके समान समान्य महत्व या महिमावाले हो केवलइन्द्रत्व उनमें नहीं होता वे सामानिक कहलाते हैं (३) जो मंत्री या पुरोहित का काम करते हैं वे त्रायस्त्रिंशक कहे जाते हैं (४) मित्र स्थानीय को परिषद् (५) शरीर की रक्षा के लिये शस्त्रों को धारण करनेवाले आतमरक्षक (६) सरहद्कीरक्षा करनेवाले या कोतवालको लोकपाल (७) सैनिक अथवा सेनापति को अनिक (८) नगरवासी या देशवासी को प्रकीर्ण (९) दास के तुल्य हैं वे अभियोगिक=सेवक (१०) जो शूद्र याने नीचजाति के समान हैं उन्हें किल्विषिक कहते हैं ॥ ४ ॥

आठ प्रकार के व्यन्तर और पांच प्रकार के ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंशक तथा लोकपाल वर्ज के शेष इन्द्रादि आठ ही भेद होते हैं अर्थात् व्यान्तर और ज्योतिष्क निकाय के देवों में त्रायस्त्रिंशक तथा लोकपाल जाति के देवता नहीं होते ॥ ५ ॥

किल्विषिक देवों का स्थान पहला तीसरा और छठा देवलोक हैं तो शेष वैमानिक देवों में दश भेद कैसे पाये जा सकते हैं यह विचारणीय है।*

इन्द्रों की संख्या।

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

---

* श्री भगवतीजी सूत्र श० १ उ० २ में किल्विषिक देवों की उत्पात जघन्य भवनपति देवों में और उत्कृष्ट लांतकस्वर्गतक बतलाई है इस सूत्रोक्त चारो निकाय के देवों में कल्विषिक देव होते हैं पर लांतक देवलोक के ऊपर वे नहीं हैं पर निकायापेक्षा चारो निकाय मे पाये जाते हैं ।

अर्थ—प्रथम की दो निकाय " भवनपति, व्यान्तर " में दो दो इन्द्र हैं ॥ ७ ॥

विवेचन—भवनपति दस और व्यन्तरों की आठ निकाय के दो दो इन्द्र हैं दक्षिण के और उत्तर के है कोष्टकद्वारा बतलाते हैं

स	देवों के नाम	दक्षिणेन्द्र	उत्तरेन्द्र
१	असुरकुमार	चमरेन्द्र	बलेन्द्र
२	नागकुमार	धरणेन्द्र	भूताइन्द
३	सुवर्णकुमार	वेणुदेव	वेणुदाली
४	विद्युत्कुमार	हरिकान्त	हरिसिंह
५	अग्निकुमार	अग्निसिंह	अग्निमानव
६	द्वीपकुमार	पूर्णेन्द्र	विशेष्टेन्द्र
७	दिशाकुमार	जलकान्त	जलप्रभा
८	उदधिकुमार	अमृतगति	अमृतवहान
९	वायुकुमार	वेलवइन्द्र	प्रभञ्जनेन्द्र
१०	स्तनितकुमार	घोषेन्द्र	महाघोषेन्द्र
१	पिशाच	कालेन्द्र	महाकालेन्द्र
२	भूत	सुरूपेन्द्र	प्रतिरूपेन्द्र
३	यक्ष	पूर्णभद्र	मणिभद्र
४	राक्षस	भीमेन्द्र	महाभीमेन्द्र
५	किन्नर	किन्नरेन्द्र	महाकिन्नरेन्द्र
६	किंपुरुष	सापुरुषेन्द्र	महापुरुषेन्द्र
७	मोहरग	अतिकायेन्द्र	महाकायेन्द्र
८	गन्धर्व	गतिरती	गतियशेन्द्र

प्रस्तुतसूत्रसे प्रथम की दो निकायों "भवनपति व्यन्तर" में दो दो इन्द्र कहे हैं इससे यह सूचित होता है कि शेष दो निकायों में उक्त संख्याका अभाव है। ज्योतिष्कोंमें चन्द्र और सूर्य दो इन्द्र हैं तथापि वे गिनती में असंख्याते हैं क्योंकि मनुष्यलोक में चन्द्र और सूर्य के २६४ विमान कहे हैं और शेष तिरछे लोकमें असंख्याते विमान हैं उन सर्व के पृथक् २ इन्द्र हैं इसलिये असंख्याते इन्द्र होते हैं। वैमानिक निकाय में प्रत्येक कल्प का १-१ इन्द्र है। जैसे-सोधर्ममें शक्रेन्द्र, ईशानमें ईशानेन्द्र, सनत्कुमारमें सनत्कुमारनामका इन्द्र है इसीप्रकार सवदेवलोकोंमे उसी देवलोक के नाम वाले एकैक इन्द्र है। परन्तु आनतप्राणत इनदोदेवलोकोंका एक ही इन्द्र है उसे प्राणतेन्द्र कहते हैं और अरण, अच्युत इन दो देवलोक में भी एकही इन्द्र है उसे अच्युतेन्द्र कहते हैं एवम् भवनपतियों के वीस इन्द्र हैं। व्यान्तरों १६, ज्योतिषियों के २ वैमानिकों के १० कुल ४८ इन्द्रहुए। अन्य शास्त्रों में ६४* भी कहतेहैं ॥ ६ ॥

प्रथम के दो निकायो की लेश्या।

पीतान्त लेश्याः ॥ ७ ॥

अर्थ—प्रथम के दो निकायवाले देव—तेजो पर्यन्त लेश्यावाले होते हैं अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत और तेजो लेश्या वाले हैं ॥ ७ ॥

विवेचन—भवनपति और व्यन्तर जातिके देवोंमें शारी-

---

* दश भवनपतियों के २० इन्द्र सोलह व्यन्तरों के ३२ इन्द्र। ज्योतिषियो के २ इन्द्र। वैमानिकों के १० इन्द्र। एवम् कुल ६४ माने गये है। एवम् चौसट इन्द्र संमिलित हो के भगवान् के जन्माभिषेपादि महोत्सव करन के लिये आते है।

रिक वर्ण रूप द्रव्यलेश्या चार मानी गई है ।

देवों की प्रचारणा ।

कायप्रवीचारा आ एशानात् ॥ ८ ॥

शेषा स्पर्शरूपशब्दमन प्रवीचारा द्वयोर्द्वयो' ॥ ९ ॥

परेऽप्रवीचारा ॥ १० ॥

अर्थ—भवनपतिसे ईशान पर्यन्तके देव कायप्रवीचारक अर्थात् मनुष्य सदृश शरीरिक सुखभोगने वाले होते हैं ॥ ८ ॥

शेष देवों में दो दो कल्पवासीदेव अनुक्रम से स्पर्श, रूप, शब्द और सङ्कल्प द्वारा विषयसुखभोगते है ॥ ९ ॥

कल्प से परे कल्पातीत देव है वे सर्वप्रकारसे प्रचारणा रहितहैं अर्थात् उन्हें विषयवासना उत्पन्न नहीं होती ॥ १० ॥

विवेचन—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, पहले और दूसरे स्वर्ग के वैमानिक देव ये सब मनुष्यों के समान काय प्रवीचारका हैं अर्थात् सर्वांग शरीर द्वारा मैथुन विषयोंका उपभोग सभोगकरते हुए प्रसन्नता को प्राप्त होते हैं ।

तीसरे स्वर्गसे यावत बारहवें स्वर्ग पर्यन्तके देव मनुष्यों के समान सर्वांग शरीर स्पर्श द्वारा काम सुखभोगनेवाले नहीं होते, वे अन्य रूपसे विषयसुखका अनुभव करते है । जैसे-तीसरे और चौथे स्वर्गवासी देव देवियों के मात्र स्पर्श से ही कामवासनासे तृप्त होकर प्रसन्नचित्त होते हैं । पाचवें और छट्ठे स्वर्गवासी देव, देवियों के सुसज्जितरूपको देखकर विषय जनित सुखसे सतोषित होते हैं । सातवें और आठवें स्वग के देव देवियों के मुखारविन्दसे मनोहर विलास जनित मधुर तलताल युक्त गीत गान और हास्यादि

स्वर्गवासी देवोंको नीचेकी अपेक्षा कामवासना मद होने से उनके चित्त मे सक्लेस की मात्राभी कम होती है कामभोग के साधन भी कम होते हैं बारहवें देवलोकसे ऊपर के देव शान्त और सतोष जन्य परमसुख में सदा निमग्न रहते हैं ॥ ८-१० ॥

पूर्वोक्त देवों के भेद प्रभेद

भवनवासिनोऽसुरनाग विद्युत्सुपर्णाग्नि वातस्तनितोदधि द्वीप दिक् कुमाराः ॥ ११ ॥

व्यन्तरा किन्नर किम्पुरुषमहोरगगान्धर्व यक्षराक्षसभूत पिशाचा ॥ १२ ॥

ज्योतिष्का सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्र प्रकीर्ण तारकाश्च॥१३॥

मेरू प्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १४ ॥

तत्कृत' कालविभाग. ॥ १५ ॥

बहिरवस्थिताः ॥१६॥

वैमानिका ॥ १७॥

कल्पोपपन्ना कल्पातीताश्च ॥ १८ ॥

उपर्युपरि ॥ १९ ॥

सोधर्मेशानसनत्कुमार माहेन्द्रब्रह्मलोक लान्तकमहाशुक्र सहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसुग्रैवेयकषु विजयवैजयन्त जयन्तापराजितेषुसर्वार्थसिद्धेच ॥ २० ॥

अर्थ—असुरकुमार १, नागकुमार २, सुवर्णकुमार ३, वेद्युत्कुमार ४, अग्निकुमार ५, वायुकुमार ६, स्तनितकुमार

उदधिकुमार ८, द्वीपकुमार ९ और दिक्कुमार ७ ये भवनवासी निकाय के देव हैं ॥ ११ ॥

किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच व्यन्तर निकाय के देव हैं ॥ १२ ॥

सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और प्रकिर्ण-तारा-ये ज्योतिष्क निकाय हैं ॥ १३ ॥

वे (ज्योतिष्क) मनुष्यलोक में मेरु की प्रदक्षिणा करने वाले नित्यगतिशील हैं ॥ १४ ॥

चर ज्योतिष्कों द्वारा काल का विभाग होता है ॥ १५ ॥

मनुष्यलोक के बाहिर ज्योतिष्क हैं वे स्थिर रहते हैं ॥१६॥

वैमानिक निकाय के देव हैं ॥ १७ ॥

वे कल्पोत्पन्न और कल्पातीत रूप दो प्रकार के हैं ॥ १८॥

और एक दूसरे के ऊपर ऊपर व्यवस्थित हैं ॥ १९ ॥

उनके वासस्थान सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, महेन्द्र ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण्य, अच्युत, नौ ग्रैवेक और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित सर्वार्थ सिद्ध ये पांच अनुत्तर विमान कहलाते हैं इन विमानों में वैमानिक निकाय के देव रहते हैं ॥ २० ॥

विवेचन—चार निकायों में से प्रथम निकाय भवनवासी है। इसलिये यथाक्रम पहले इन्हीं का वर्णन करते हैं।

दश प्रकार के भवनपति देवों का आवासस्थान महामन्दिर-मेरु पर्वत के नीचे या तिरछा उत्तर दक्षिण दिशा में अनेक कोटा कोटी लक्ष योजनपर्यन्त रहते हैं असुरकुमार बहुधा आवास में और कभीकभी भवनमें निवास करते हैं शेष नागकुमारादि का निवास प्रायः भवनोंमें ही होता है वे भवन रत्नप्रभा पृथ्वी पिंड को एक

सहस्रयोजन उर्द्ध, अधो भाग छोड के शेष एकलाखअठहत्तरहजार योजन में आवास हर जगह होते हैं और रत्नप्रभानारकी के नीचे नगरके समान होते है उसे भवन कहते ह। और आवास बहुधा सबजगह पाये जाते हैं और वे मडप के आकार के होते है।

प्रश्न—भवनपतिदेवोंको कुमार किसलिये कहते हैं?

उत्तर—वे कुमारोंके समान दिखनेमें मनोहर तथा सुकुमार मृदु, मधुर जातिवाले और क्रीडाशील होते हैं पूर्वोक्त दश प्रकार के भुवनपतियों के चिह्नादि सम्पत्ति स्वजातिके अनुसार पृथक् २ होती है जैसे (१) असुरकुमारोंके मुकुमें चुडामणिका चिन्हरहता है इसीतरह (२) नागकुमाके नाग (सप) (३) विद्युत्कुमारके वज्र (४) सुपर्णकुमारके गरुड़ (५) अग्निकुमार के कलश (६) वायुकुमार के मगर (७) स्तनित् कुमार के वर्धमान (८) उदधिकुमार के गज (९) द्वीपकुमार के सिंह और दिक्कुमार के अश्व का चिन्ह होता है। नागकुमारादि के चिन्ह आभरण विशेष में रहते है और सब के वस्त्र शस्त्राभूषणादि नाना प्रकार के होते है॥ ११॥

व्यन्तर—द्वितीय निकाय व्यन्तर है। उनके वासस्थान जो भवन और आवास हैं वे उर्द्ध, अधो और तीयग अर्थात् लोक मे तीनों जगह पाये जाते हैं वे अपनी इच्छा से या दूसरे की प्रेरणा से हरएक जगह आया जाया करते है इनमे से कई मनुष्यों की सेवा करने वाले भी हैं तथा विविध प्रकार के पहाड़, वन, गुफा और अतरोंद्विर्म निवास करते है इसी कारण वे व्यन्तर कहलाते हैं इनमें जो किन्नर नाम के व्यन्तर हैं वे दश प्रकार के है जैसे-किंनर, किंपुरुष, किंपुरुषोत्तम किन्नरोत्तम, हृदयगम, रूपशाली, अनिन्दित, मनोरम, रतिप्रीय और रतिश्रेष्ठ॥ किंपुरुष नाम के व्यन्तर भी दश प्रकार के होते हैं जैसे-पुरुष, सतपुरुष, महापुरुष, पुरुषवृ

पम. पुरुषोभय, अतिपुरुष, मरुदेव, मरुत, मरुप्रभा और यत्तस्वान॥ महोरग दश प्रकार के हैं जैसे-भुजग, भोगशाली, महाकाय, अति-काय, स्कन्धशील, मनोरम, महावेग. महेष्वच, मल्कान्त और भास्वन्त ॥ गन्धर्व-बारह प्रकार के हैं जैसे-हाहा, हूहू, तुंबुरु, नारद ऋषिवादिक, भूतवादिक, कादंब. महाकादंब. रैवत. विश्वावसु, गीतरति और गीतयस॥ यक्ष तेरह प्रकार के हैं जैसे पूर्णभद्र. मणि-भद्र, श्वेतभद्र, हरिभद्र, सुमनोभद्र, व्यतिपातिकभद्र, सुभद्र सर्व-तोभद्र, मनुष्ययक्ष; वनाधिपति. वनाहर, रूपयक्ष, और यक्षोन्तर॥ राक्षस सात प्रकार के हैं जैसे भीम. महाभीम, विघ्न, विनायक; जलराक्षस, राक्षसराक्षस, और ब्रह्मराक्षस ॥ भूत नौ प्रकार के हैं जैसे-सुरूप, प्रतिरूप. अतिरूप, भूतोत्तम, स्कंदिक, महास्कं-दिक, महावेग, प्रतिछन्न, और आकाराग ॥ पिशाच पन्द्रह प्रकार के हैं जैसे-कुष्माण्ड, पटक, जोष, आन्हक, काल, महाकाल, चोक्ष अचोक्ष, तालपिशाच, मुखरपिशाच, अधस्तारक, देह, महाविदेह, तूष्णकि, और वनपिशाच ॥ उक्त आठप्रकारके व्यन्तरोंके चिन्ह-यथाक्रम हैं जैसे--अशोक, चम्पक, नाग. तुंबर, वट, खट्वांग, (यो-गीजनों के पास खपर वाला दंड), सुलस, और कंदब. खटवांग, सिवाय बाकी है चिन्ह वृक्ष जाति के हैं वे आभूषणादि में रहते हैं।१२

ज्योतिष्क—तीसरा निकाय ज्योतिष्क देवों का है वे पांच प्रकार के हैं और मेरु की समतल भूमि से ७६० योजन पर्य-न्त ऊँचाई का परिमाण है। तिरछा असंख्याता द्वीपसमुद्रपरिमाण है। समतल भूमि से ८०० योजन की ऊँचाई पर सूर्यका विमान है इससे ८० योजन ऊंचाई पर चन्द्रका विमानहै और चन्द्रमासे वीसयोजन ग्रह, नक्षत्र तथा तारागणहैं। कितनेहीतारागण अनि-यतचारी हैं वे किसी समय सूर्य और चन्द्रमा के नीचे और किसी समय ऊपर गति करते हैं। जब नीचे गति करते हैं उस समय

वे सूर्यसे १० योजन पर्यन्त नीचे रहते हैं चन्द्रमासे चारयोजन ऊचाई में नक्षत्रोंके विमानहैं नक्षत्रोंसे चारयोजन बुधग्रह, बुध से तीनयोजन शुक्र, शुक्र से तीनयोजन गुरू, गुरू से तीनयोजन मगल, मगलसे तीनयोजन शनिश्चर का विमान है ज्योति अर्थात् प्रकाशमान विमानों में रहने के कारण सूर्यादि ज्योतिष्क कहलाते हैं अथवा प्रकाश रूप होने से वे ज्योतिष्क कहे जाते हैं उनके मस्तक पर जो मुकुट है उनमें उज्वल देदिप्यमान भास्कर मडल के समान सूर्य के और चन्द्रादि, ताराओं के मडल रुप अपने अपने चिन्ह यथाक्रम से चिन्हित हैं॥

चर—पूर्व अ० ३ सू० १४ में कह आये हैं कि मानुष्योत्तर पर्वत पर्यन्त मनुष्य लोक है इसमें रहनेवाले ज्योतिष्क नित्यगति शील होकर मेरु की प्रदिक्षणा करते हुए सदैव भ्रमणकिया करते हैं और वे मेरु से ११२१ योजन दूर रहते हैं मनुष्य लोक में १३२ सूर्य और १३२ चन्द्रमा हैं जैसे-जम्बूद्वीप में २ २, लवणसमुद्र में ४ ४, धातकीखंड में १२ १२, कालोदधिसमुद्र में ४२ ४२, पुष्करार्द्ध द्वीप में ७२ सूर्य और ७२ चन्द्रमा हैं। एकक चन्द्रमा का परिवार २८ नक्षत्र ८८ ग्रह और ६६९७५ कोटाकोटी तारागण हैं वे ज्योतिष्क विमान लोकमर्यादा अथवा प्राकृतिक स्वभावसे सदा स्वयम् फिरा करते हैं तथापि ऋद्धिविशेषके लिये अभियोग्य (सेवक) नामकर्म उदयहै जिनको ऐसे नित्यगतिसे प्रीतिरखनेवाले देवभ्रमण कराते हैं अर्थात् व क्रीडाशीलहोकर पूर्वदिशीमें सिंहाकृति, दक्षिणदिशीमें गजाकृति, पश्चिमदिशीमें वृषभरुप और उत्तरदिशीमें अश्वरूपको धारण करके विमान को उठाकर अतिवेगसे भ्रमणकरते हैं "दौडते हैं"। काल-का व्यवहार मुहूर्त, घडी, अहोरात्र, पक्ष, मासादि अतीत, अनागत, सख्येय, असख्येय, अनतरूप अनेक प्रकार का है यह केवल मनुष्यलोकसे ही व्यवहार किया जाताहै। मनुष्यलोकके

बाहिर कालका व्यवहार नहीं है क्योंकि वहां ज्योतिष्क देवों की संचारण अर्थात् भ्रमण विशेषगति नहीं है तथापि अपेक्षा से वहां जो काल का व्यवहार माना जाता है वह केवल मनुष्यलोक व्यवहृत काल समझना चाहिये। कालका व्यवहार नियतक्रियाके आधार पर है और वह क्रिया चर ज्योतिष्क देवके प्राकृतिक स्वभाव विशेषसे हुआ करती है इसलिये स्थूल कालविभाग सूर्य आदि ज्योतिष्क देवोंके गतिपरही अवलम्बित है और इसीसे जानाजाता है। समयादि सूक्ष्मकाल विभागसे नहीं जाना जाता वह सबसे जघन्य गति परिणत परमाणु का पलटन स्वभाव विशेष है और इतनासूक्ष्महै कि उसे परमऋषि केवलीके सिवाय अन्य नहींजानते। नियत स्थान में सूर्य का दर्शन होना और लुप्त होना ही उदयास्त है उस उदय और अस्त के मध्यवर्ती क्रिया को दिन कहते हैं। इसीतरह सूर्य के अस्त से उदयवर्ती मध्य क्रिया रात कहलाती है दिन, रात का तीसवां भाग मुहूर्त है। पन्द्रह अहोरात्र का पक्ष, दो पक्षका एकमास, दोमासकी ऋतु, तीनऋतुकी अयन, दोअयनका वर्ष, पांचवर्षका युग इत्यादि अनेक प्रकारसे लौकिक काल विभाग सूर्य की गति क्रिया से कहाजाताहै। प्रवर्तमान क्रिया वर्तमान काल है और होचुकी वह अतीतकाल है, जो क्रियाहोनेवाली है वह अनागतकालहै। जो काल गिनतीमें आता है उसे संख्येय, जो गिनती में नहीं आता केवल उपमा द्वारा समझाया जाय वह असंख्यात्। जैसे पल्योपम, सागरोपम इत्यादि और जिसका अन्त नहीं उसे अनन्त कहते हैं ॥ १५ ॥

स्थिरज्योतिष्क—मनुष्यलोक के वाहिर सूर्यादि ज्योतिष्क विमान स्थिर हैं उनका स्वभाव ही ऐसा है कि वे विचरणा क्रिया नहीं करते उनकी लेश्या और प्रकाशभी एक रूप से स्थित रहता है। अर्थात्-राहु आदि की छाया न पड़ने से उनका स्वाभाविक

रग ही रहता है। उदयास्त नहीं होने से प्रकाश भी लक्ष योजन प्रमान में एक समान स्थित रूप रहता है ॥ १६ ॥

वैमानिक देव—चतुर्थ निकाय वैमानिक देवों का है यह नाम केवल परिभाषिक है क्योंकि विमान में रहनेवाले ज्योतिष्क आदि अन्य देव भी हैं, परन्तु उन्हें वैमानिक नहीं कहते ॥ १७ ॥

वैमानिक देवों के दो भेद हैं (१) कल्पोत्पन्न (२) कल्पातीत, कल्प, आचार और व्यवहार ये एकार्थवाची शब्द हैं जिन देवों को तीर्थंकरादि के जन्म कल्यानक आदि कार्यों में अवश्य जाना पड़ता है वे कल्पोत्पन्न कहलाते हैं। अथवा जिनमें स्वामी सेवक आदि न्यूनाधिकपनेका व्यवहार है वे कल्पोत्पन्न कहलाते हैं और जिनको किसी प्रकार का आचार व्यवहार नहीं करना पड़ता और न स्वामी सेवकादि का भाव है सब सामान्यरूप से रहते हैं उन्हें कल्पातीत कहते हैं ॥ १८ ॥

उनके विमान सब एक स्थान में नहीं किन्तु यथा निर्देश क्रम के अनुसार वे एक दूसरे के ऊपर ऊपर स्थित हैं १६

कल्प के सौधर्म, ऐशानादि बारह भेद हैं। ज्योतिषचक्र से असंख्यात योजन ऊपर सौधर्म कल्प है। वह मेरु से दक्षिण दिशा के आकाश प्रदेशों में अवस्थित है इसके उत्तर दिशा मे ऐशान कल्प है सौधर्म कल्प से समश्रेणी असंख्यात योजन ऊपर जाने पर सनत्कुमार कल्प है ऐशान कल्प के ऊपर सम श्रेणी महेन्द्र कल्प है, इन दोनों के ऊपर मध्यवर्ती ब्रह्मलोक कल्प है, अर्थात् ठीक मेरु शिखाकी समश्रेणी पर है, इसके ऊपर अनुक्रम से लातक, महाशुक्र तथा सहस्रार ये चारों कल्प एक दूसरे के ऊपर ऊपर हैं, इस से ऊपर सौधर्म और ऐशान कल्प के समान उत्तर दक्षिण दिशा में आनत, प्राणत दो कल्प हैं और इनके

ऊपर समश्रेणी आरण तथा अच्युत कल्प हैं, इन कल्पों के ऊपर अनुक्रम से एक दूसरे के ऊपर नौ विमान हैं वे पुरुषाकृत लोक के ग्रीवा स्थानीय होने से ग्रैवेयक कहलाते हैं। इनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध ये पांच विमान हैं सबसे ऊपर यानि प्रधान होने से अनुत्तर कहलाते हैं। सौधर्म से यावत् अच्युत पर्यन्त के देव कल्पोत्पन्न कहलाते हैं और इनसे ऊपर के सब कल्पातीत हैं वे सब इन्द्र के समान हैं इसलिये अहमेन्द्र कहलाते हैं। किसी भी कारणवश वे मनुष्य लोक में नहीं आते और न अपने स्थानसे ही चलित होते हैं। हलन चलन क्रिया करने वालों को कल्पोत्पन्न कहते हैं ॥ १९-२० ॥

विषय की न्यूनाधिकता

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियाऽधिविषयतोऽधिकाः ॥ २१ ॥

गति शरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २२ ॥

अर्थ—सौधर्मकल्पोके देवों की अपेक्षासे ऊपर ऊपर के देवोंकी स्थिति, प्रभाव, सुखद्युति, लेश्या विशुद्ध है और इन्द्रिय विषय, अवधि विषय में अधिकाधिक है गति, शरीर, परिग्रह और अभिमानमें वे ऊपर ऊपरके देव हीन हीनतर हैं ॥ २१-२२ ॥

विवेचन—सौधर्मादि नीचे के देवोंकी अपेक्षा ईशानादि ऊपर ऊपरके देव उक्त सात बातोंमें अधिक होते हैं। जैसे:—

(१) स्थिति जिसका सविस्तार वर्णन अ० ४ सू० २३में लिखेंगे।

(२) प्रभाव—निग्रह, अनुग्रह अर्थात् अहित, हितका सामर्थ्य, अणिमा, महिमादि सिद्धि का सामर्थ्य आक्रमणादि करके अन्यदेवोंसे कामकरवाना इत्यादि प्रभाव ऊपर ऊपर के देवोंमें

अधिक अधिकतर होता है तथापि अभिमान और संक्लेश से वे हीन हीनतर होतेहैं ।

(३४) सुख और द्युति—ग्राह्य विषयके अनुभवोंको सुख और शरीर वस्त्राभरणादिके तेजको द्युति कहते हैं। ये दोनों विषय ऊपर २ के देवोंमें अधिक २ होता है क्योंकि क्षेत्र स्वभावसे शुभपुद्गलोंकी उत्तरोत्तर प्रकृष्टता है।

(५) लेश्या—इसका स्पष्टिकरण आगे सू० २३में करेंगे। यहां इतनाही कहते हैं कि नीचेकी अपेक्षा ऊपरके देव विशुद्ध विशुद्धतर लेश्यावाले हैं।

(६) इन्द्रिय विषय—दूर से इष्ट विषयको ग्रहण करना यह इन्द्रियों का धर्म है वह उत्तरोत्तर गुणवृद्धि और संक्लेश की न्यूनता होनेसे सौधर्मादि देवोंकी अपेक्षा ईशानादि देवोंको इन्द्रिय पाटव उत्तरोत्तर विशुद्ध विशुद्धतर होता है।

(७) अवधिज्ञान विषय—अवधिज्ञान का सामर्थ्य भी उत्तरोत्तरदेवों को विशेष विशेषतर होता है पहले और दूसरे स्वर्ग के देवोंको अध रत्नप्रभा पर्यन्त तथा तिर्छा असख्यातालक्षयोजन और उर्द्ध अपने विमानकी पताका पर्यन्त अवधिज्ञानसे देखने जाननेका सामर्थ्य है, तीसरे और चौथे स्वर्गके देव नीचे शर्करप्रभा, नारकी, उर्द्ध अपने विमान की पताका और तिर्छा असख्याता द्वीप समुद्र पर्यन्त देख सकते हैं, इसीतरह क्रमश अनुत्तर विमानवासी देव सम्पूर्ण लोकनालीको अवधिज्ञानसे देख सकते हैं। जिन देवों को अवधिज्ञानकी सामान्यता है वे भी नीचेकी अपेक्षा ऊपरके देव उसी विषय को विशुद्ध विशुद्धतर देखते हैं ॥ २१ ॥

अब उन चार विषयोंका वर्णन करते हैं जिसमें नीचेकी अपेक्षा ऊपर के देवोंमें न्यूनता पाई जाती है।

(१) गति—गमनक्रियाकी शक्ति और गमन क्रिया की

प्रवृत्ति ये दोनों बातें उत्तरोत्तर देवों में हीन हीनतर होती है क्यों कि वे अधिक भाग्यशाली और उदासीनतावाले होते हैं। इसीलिये उत्तरोत्तर गमन और रति आदि क्रिया में वे हीन विषयी है। जैसे— सनत्कुमारादि देव जिनकी जघन्य स्थिति दो सागरोपमकी होती है वे नीचे सातवीं नरक पृथ्वी और तिरछा असंख्याता हजारों कोड़ा कोड़ी योजन पर्यन्त जानेकी सामर्थ्य रखते है इससे ऊपर के विमानवासी देव गति विषय हीन हीनतर होते हुए यावत तीसरे नरक पर्यन्त जा सकते हैं। गति विषयक शक्ति चाहे जितनी अधिक हो परन्तु यद्यपि कोई भी देव तीसरे नरकसे आगे न गया है और न जावेहीगा।

(२) शरीर परिमाण—पहले और दूसरे स्वर्गके देवोंकी ऊँचाई सात हाथ परिणाम है, तीसरे और चौथे स्वर्गमें छे हाथ, पांचवें, छट्ठे स्वर्गमें पांच हाथ, सातवें, आठवें स्वर्गमें चार हाथ, नौवें से बाहरवें स्वर्ग पर्यन्त तीन हाथ, नौग्रैवेकमें दो हाथ, और पांच अनुत्तर विमानवासी देवोंके शरीरकी ऊँचाईका मान एक हाथ का ही है।

(३) परिग्रह—पहले स्वर्गमें बत्तीसलक्ष विमान है. दूसरे में अट्ठाईसलक्ष, तीसरे में बारह लक्ष, चौथेमें आठ लक्ष, पांचवें में चार लक्ष, छट्ठेमें पचासहजार, सातवें में चालीस हजार, आठवेंमें छ हजार, नौवें से बाहरवें पर्यन्त सातसौ, अधोवर्ती तीनग्रैवेक में एक सौग्यारह, मध्यवर्ती तीनग्रैवेक मे एक सौ सात ऊर्ध्वके तीनग्रैवेक में एकसौ और पांच अनुत्तर विमान में एकैक विमान का ही परिग्रह है।

अभिमान—अहम् भावको कहते हैं। वह स्थान, परिग्रह शक्ति, विषय, विभूतिस्थिति आदि आदि से उत्पन्न होता है। कषाय की मंदता होनेसे उत्तरोत्तर देवोंको अभिमान भी न्यून न्यूनतर है।

इनके सम्बन्धमें दूसरी और भी पाच बातें जानने योग्य हैं (१) उश्वास (२) आहार (३) वेदना (४) उपपात (५) अनुभाव।

(१) उश्वास—जैसे उत्तरोत्तर देवों की स्थिति बढती है वैसे उनके उश्वास का काल मान भी बढता है यथा दसहजार वर्षके आयुष्यवाले देव सातस्तोक परिमाण कालमे एकउश्वास लेतेहैं। एकपल्योपम आयुष्यवाले प्रत्येक मुहूर्त एकउश्वास लेते है, एक सागरोपम आयुष्यवाले एकपक्षमें उश्वास लेते हैं एव जितने सागरोपम का आयुष्य हो उतने ही पक्षमें वे एकवार उश्वास ग्रहण करते हैं।

(२) आहार—इस सम्बन्धमें ऐसा नियम है कि दस हजार वर्ष आयुष्यवाले देव एक एक दिन की आड से आहार करते हैं पल्योपम आयुष्यवाले देव पृथक्त्व दिन (२ से ९ की सख्याको पृथक्त्व माना है) में एक बार, सागरोपम आयुष्यवाले देवोंके लिये यह नियम है कि जितने सागरोपम का आयुष्य हो वे उतने ही हजार वर्षोंमे एकवार आहार ग्रहण करते हैं जैसे एकसागरकी आयुष्यवाला एकहजारवर्ष, दो सागरोपम की आयुष्यवाला दोहजार वर्ष इत्यादि।

(३) वेदना—सामान्य रीति से प्राय वे सातावेदना अर्थात् सुख का ही अनुभव करते हैं, कदाचित दुख उत्पन्नहो तो अन्तरमुहूर्तसे अधिक नहीं रहता। साता वेदनी भी अधिक से अधिक छ मास पर्यन्त एकसी सामान्यरूप रहकर पश्चात् अवश्य न्यूनाधिक रूपसे उसका परिवर्तन होता है।

(४) उपपात—इसका अर्थ उत्पत्तिस्थान की योग्यताहै। अन्य लिंग "जैनेतर लिंग" मिथ्यात्वी बारहवें स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न हो सकता है। स्वलिंग मिथ्यात्वी ग्रैवेक पर्यन्त, सम्यक्दृष्टि पहले स्वर्ग

से यावत् सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। परन्तु चतुर्दश पूर्वी संयती छट्ठे स्वर्ग से नीचे उत्पन्न नहीं होता।

(५) अनुभाव—इसका अर्थ लोकस्थिति, लोकानुभव, लोकस्वभाव, जगद्धर्म अनादि परिणाम संतति है। विमान, सिद्ध-शिलादि निराधारपने आकाश में रहे हुए हैं इसका मुख्य कारण लोक स्थिति है। भगवन् महर्षि अर्हन् के जन्माभिषेकादि प्रसंगोंपर सब देव चाहे बैठे, सोते या खड़े हों अथवा अन्य किसी भी दशामें हों उनके आसन शयन अकस्मात शीघ्रता से चलायमान होते हैं। तत्पश्चात् अवधिज्ञान के उपयोगसे भगवान के जन्मादि पांच कल्याणकोंका शुभ समय जानकर तथा उनके नामकर्म से उत्पन्न हुई विभूति "ऐश्वर्य" को अवधिज्ञान से देखकर संवेग "भक्ति सहित वैराग्य" उत्पन्न होनेसे सत्धर्म बहुमानसे प्रेरित होकर कितने ही देव उनके समीप जाकर स्तुति, वंदन, पूजन, उपासनादि से अपना आत्मकल्याण करते हैं और कितने ही देव अपने स्थानमें रहे हुए ही सद्धर्मके अनुरागसे विकसित नेत्र हो हाथ जोड़ दण्डवत् प्रणाम नमस्कारादि से तीर्थंकरों की पूजा, अर्चा करते हैं यह लोकानुभाव कार्य है ॥ २१–२२ ॥

वैमानिकों में लेश्या।

पीतपद्म शुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २३ ॥

अर्थ—प्रथम के दो वैमानिक देवोंमे पीत 'तेजो' लेश्या तथा उसके ऊपर तीन विमानों में पद्मलेश्या और शेषमें शुक्ल लेश्याहै ॥ २३ ॥

विवेचन—चतुर्थनिकाय देवोंमें लेश्याकी यह अवस्थाहै कि प्रथमके "सौधर्म, ऐशान" दो कल्पोंमें पीत अर्थात् तेजोलेश्या होतीहै उसके ऊपर तीन "सनत्कुमार, महेन्द्र, ब्रह्म" कल्पोंमें पद्म-

लेश्या और शेष वैमानिकदेवोंमें शुक्ललेश्याहोतीहै सामान्यलेश्या वालेदेवोंमें भी ऊपर ऊपरके वैमानिकदेवोंमें अधिक अधिकतर विशुद्धलेश्याहोतीहैं। यह नियम शारीरिकवर्णरूप द्रव्यलेश्या विषयकहै। क्योंकि अध्यवसायरूप भावलेश्या तो सबदेवोंमें छओं प्रकारकी होती हैं॥ २३॥

कल्पों की परिगणना।

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः　　　　　　　　　　　　॥ २४॥

अर्थ—ग्रैवेयकसे पूर्वके वैमानिककल्प कहलातेहैं॥ २४॥

विवेचन—जिसमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंशादि रूपसे देवोंकी विभागकल्पना की जाय उसे कल्पकहतेहैं। सौधर्मसे आदि लेकर ग्रैवेयकके पूर्व अर्थात् अच्युतपर्यंतकेदेव कल्पोत्पन्न कहलाते हैं और ग्रैवेयकसे आदि लेकर उत्तर वर्ती देव कल्पातीतहैं क्यों कि उक्त विभागरूप कल्प उनमें नहीं है।

प्रश्न—भगवान परमपि अर्हत् के जन्माभिषेकादिमें जो देवजातेहैं वे सब सम्यग्दृष्टि होते हैं?

उत्तर—नहीं किन्तु वेही सम्यग्दृष्टि है जो सद्धर्म बहुमानपूर्वक अतिप्रसन्नचित्तहोके जन्मादि स्थानों पर जातेहैं और आनन्दसे रोमाञ्चितहोके गद्गद स्वरसे भगवानकी स्तवना व प्रति-उपासना करते अथवा धर्मोपदेश सुनतेहैं जिससे कर्मोकी अनन्त निर्जरा होतीहै मिथ्यादृष्टि देवतो वे केवल चित्तविनोद या इन्द्रकी अनुकूलतासे परम्परके आनन्दसे अथवा सबदेव ऐसे करते आयेहैं इस लिये हमको भी करना चाहिये ऐसा समझ प्रसन्नता को प्राप्त होते हुवे जन्माभिषेकादि उत्सवोंमें सम्मिलित होतेहैं और वहां भगवान् की स्तुति करते हुए या उनका उपदेश सुनके कितनेक देव सम्यक्त्वको प्राप्तकरलेते हैं और जिनको सम्यक्त्व प्राप्तहै वे कर्मोकी

यथा स्वरूप निर्जरा करसकते हैं ॥ २४ ॥

लोकान्तिक देवोंका वर्णन ।

ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ॥ २५ ॥

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुपिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च[1] ॥ २६ ॥

अर्थ—जिनका ब्रह्मदेवलोक निवासस्थानहै वे लोकान्तिकदेव कहलाते हैं ॥ २५ ॥

उनके सारस्वत, आदित्य, वह्नि, आरुण, गर्दतोय, तुपित अव्याबाध, मारुत और अरिष्ट ये नौ भेद हैं ॥ २६ ॥

विवेचन—लौकान्तिक देव विपयरहित होने से देवर्षि कहलाते हैं। उनमें परस्पर स्वामी सेवकपने का भाव नहीं है। किन्तु सब स्वतंत्र भावसे रहतेहैं और तीर्थंकरों के निष्क्रमण अर्थात् गृहत्याग-दित्ता समय जब समीप होताहै तब वे उनके पास आकर "बुज्झह, बुज्झह" शब्दद्वारा निवेदन करते हुए अपने आचार का पालन करतेहैं। उनका स्थान ब्रह्मलोक नामक पांचवें स्वर्गके चौतर्फ है, अर्थात् चार दिशी विदिशीके सिवाय अन्यस्थान में नहींरहते। वे वहां से च्युत होकर मनुष्यजन्म पाके मोक्षपदप्राप्त करते हैं ॥ २५ ॥

प्रत्येक दिशाविदिशा और मध्यभागमें एकेक जातिका निवासस्थान है। इसहेतुसे इनकी नौ जाति मानी गई है। जैसे—पूर्व, उत्तर अर्थात् ईशान कोणमें सारस्वत, पूर्वदिशीमें आदित्य इसीप्रकार अनुक्रमसे आठ विमान प्रदक्षिणाकृत्य और नौवां अरिक नामक विमान उनके मध्यवर्तिहैं। इनमें रहनेवाले देव लौकान्तिक

---

[1] रायचन्द्र जैन शास्त्र माला म छपी हुई पुस्तक में (मरिष्टाश्च) यह पाठ कोष्टक में दिया है।

कहलातेहैं अर्थात् उनका निवासस्थान लोकका अन्तिमभाग (किनारा) है। सारस्वतादि विमानोंके नामसे ही उनदेवोंके नाम प्रसिद्ध हैं (दिगम्बरीय सूत्र और भाष्यकारोने लोकान्तिकदेवोंके आठही भेद कहे हैं। उनमें मरुतका उल्लेखनहींहै परन्तु ठाणागादि सूत्रों में नौ भेद कहे है। और उत्तमचरित्रमे तो दस भेदका भी उल्लेख है॥ २५-२६॥

अनुत्तर देवोंका विशेषत्व।

विजयादिषु द्विचरमा ॥ २७॥

अर्थ—विजयादि देव केवल दो वार विजयादि वैमानमें देवभव धारण कर सिद्धावस्थाको प्राप्तहोते हैं॥ २७॥

विवेचन—अनुत्तरविमान पांचप्रकारकेहैं जिसमे विजय वैजेयन्त, जयन्त और अपराजित इन चार विमानों के देव द्विचरमा अथात् अधिकसे अधिक दो वार विजयादि वैमानमें देवभव धारणकर मोक्षपदप्राप्तकरतेहैं। जैसे अनुत्तर विमानसे च्युत होकर मनुष्यजन्म और इस मनुष्यजन्मसे फिर अनुत्तरविमानमें उत्पन्नहोते हैं। वहासे पुन मनुष्यजन्म धारण कर मोक्षपद प्राप्त करते हैं, परन्तु सर्वार्थसिद्ध विमानवासीदेव केवल एक ही वार मनुष्यजन्म लेकर उसी भव मोक्षप्राप्तकरतेहैं। इस प्रकारका नियम अन्य किसी प्रकारके देवों के लिये नहीं है, क्योंकि कोई एकवार कोई दो कोई तीन कोइ चार कोई कोई इनसे भी अधिक वार जन्म धारण करने वाले होते हैं॥ २७॥

तिर्यग् योनि विषय।

औपपातिक मनुष्येभ्य शेषास्तिर्यग्योनय ॥ २८॥

अर्थ—औपपातिक और मनुष्योंके सिवाय जो शेष रहेहैं

यहां पूर्व सूत्रसे सातकी अनुवृत्ती आतीहै इसलिये साधिक सागरोपम, तीनसे अधिक सागरोपम, सातसे अधिक सातसागरोपम, सातसे अधिक दससागरोपम, सातसेअधिक ग्यारहसागरोपम, सातसेअधिक तेरहसागरोपम, सातसेअधिक पन्द्रह सागरोपम. अधिक परास्थिति है महेन्द्र से यावत् अच्युत कल्प वासीदेवोंकी है ॥ ३७ ॥

अरण, अच्युतके ऊपर नौग्रैवेक, चारअनुत्तर और सर्वार्थसिद्धके देवोंकी परास्थिति एक एक सागरोपम अधिकहै॥३८॥

विवेचन—यहां जो वैमानिकदेवोंकी स्थितिबताई है वह उत्कृष्टस्थितिहै जैसे सौधर्मदेवोंकी दोसागरोपम, ईशानदेवोंकी साधिक दोसागरोपम, सनत्कुमारदेवों की सात सागरोपम, महेन्द्र देवोंकी साधिकसातसागरोपम. ब्रह्मलोकदेवोंकी दशसागरोपम, लोकान्तिकदेवोंकी चौदहसागरोपम महाशुक्रदेवोंकी सत्रहसागरोपम, सहस्रारदेवों की अठारहसा० अणत् उन्नी० सा० प्रणत् वीस० सा० अरण इक्कीस सा० अच्युत बाबीस सा० प्रथमत्रीक ग्रैवेग पचीस सा० द्वितीयत्रिक्ग्रैवेग अठावीस सा० तृतीयत्रिक्ग्रीवैग एकतीस सा० अनुत्तरवैमानवासीदेवोंकी तेतीससागरोपम की परास्थिति हैं जघन्यस्थिति आगे सूत्रसे बतलाते हैं ।

जघन्य स्थिति ।

अपरा पल्योपममधिकं च ॥ ३९ ॥

सागरोपम–अधिके च ॥ ४० ॥ ४१ ॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वानंतरा ॥ ४२ ॥

अर्थ—अपरा 'जघन्य' स्थिति पहले स्वर्गकी एक पल्योऔर दूसरेस्वर्ग की साधिक पल्योपम है ॥ ३९ ॥

तीसरे स्वर्गकी दो सागरोपम ॥ ४० ॥

चौथे स्वर्गकी उससे साधिक ॥ ४१ ॥

पूर्व पूर्व स्वर्ग में जो उत्कृष्ट स्थिति है वही पर२ स्वर्ग की जघन्य स्थिति समझना चाहिये ॥ ४२ ॥

विवेचन—सौधमस्वर्गके देवोंकी जघन्यस्थिति इस अनुक्रमसे है जसे=पहिले स्वर्गकी एक पल्योपम, दूसरे की उससे साधिक, तीसरेकी दोसागरोपम,चौथेकी दो सा० सेअधिक,पाचवें की सातसा० छठेकी दस सा० सातवेंकी चौदह सा० आठवेंकी सत्रह सा० नौवें की अठारह सा० दशवेंकी उन्नीस सा० ग्यारहवें की वीस सा० बारहवेंकी इक्कीस सा० नौ ग्रैवेयक में नीचे त्रय की २२ २३ २४ सा० मध्यम त्रय की २५-२६-२७ सा० ऊपरके त्रयकी २८-२९-३०सा० चारअनुत्तर विमानकी ३१ सा० सर्वार्थसिद्ध की ३३ सागरोपम की जघन्य स्थिति है ॥ ३९—४२ ॥

नारकी की जघन्य स्थिति ।

नारकाणाच द्वितीयादिषु ॥ ४३ ॥

दश वर्षसहस्राणिप्रथमायाम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—द्वितीयादि नरकभूमिमें भी पूर्व पूर्व की जो उत्कृष्ट स्थितिहै वही उत्तर२ की जघन्यस्थिति होती है ॥ ४३ ॥

पहलीनरकभूमिमें जघन्यस्थिति दश हजार वर्षकी है।४४।

विवेचन—जैसे ४२ वें सूत्रमें देवों की जघन्य स्थितिका अनुक्रम बताया है वही अनुक्रम दूसरीसे यावत् सातवींनरक पर्यन्त समझना जैसे १०००० वर्ष १—३ ७ १०-१७-२२ सागरोपम जघन्य स्थिति है ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

भवनपति, व्यन्तरदेवों की ज० स्थिति

भवनेषुच ॥ ४५ ॥

व्यन्तराणांच ॥ ४६ ॥

परा पल्योपमम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—भवनवासी और व्यन्तरदेवों की ज० स्थिति १०००० वर्ष कीहै और व्यन्तरोंकी उ० स्थिति एक पल्योपमकीहै ४५-४६-४७

ज्योतिष्कों की स्थिति ।

ज्योतिष्काणामधिकम् ॥ ४८ ॥

ग्रहाणामेकम् ॥ ४९ ॥

नक्षत्राणामर्द्धम् ॥ ५० ॥

तारकाणां चुतर्भागः ॥ ५१ ॥

जघन्यात्वष्टभागः ॥ ५२ ॥

चतुर्भागः शेषाणाम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—ज्योतिष्क अर्थात् सूर्य, चन्द्रकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम साधिक है ॥ ४८ ॥

ग्रहों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपमकी है ॥ ४९ ॥

नक्षत्रोंकी उत्कृष्ट स्थिति अर्द्धपल्योपमकी है ॥ ५० ॥

ताराओं की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का चतुर्थभागहै ॥५१॥

ताराओंकी जघन्य स्थिति पल्योपम का आठवांभागहै ।५२।

तारागण छोड़के शेष ज्योतिष्कों की जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थ भाग है ॥ ५३ ॥

इति तत्वार्थ सूत्रस्य चतुर्थोऽध्याय हिन्दीअनुवाद

—: समाप्तम् :—

पाँचवाँ अध्याय

दूसरे से यावत् चतुर्थअध्याय पर्यन्त जीवतत्त्वका निरूपण किया अब वर्तमान अध्यायमें अजीवतत्त्वका निरूपण करते हैं।

अजीवके भेद

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला ॥ १ ॥

अर्थ—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये, चार अजीवकाय कहलाते हैं ॥ १ ॥

विवेचन—निरूपण पद्धतिके अनुसार पहले लक्षण और पीछे भेदनिरूपण होना चाहिये तथापि सूत्रकारने नियम उल्लंघन कर पहले भेद निरूपण किया जिसका कारण यह है कि अजीव लक्षणका ज्ञान जीव लक्षणसे हो सकता है जैसे-अजीव अर्थात् जीव नहीं वही अजीव। उपयोग जीवका लक्षण है जिसमें उपयोग न हो उसे अजीव तत्त्व कहते हैं अर्थात् उपयोग अभाव ही अजीव तत्त्वका लक्षण है।

अजीव है यह जीवका विरोधी भावात्मक तत्त्व है परन्तु यह केवल अभावात्मक नहीं है।

धर्मादि चार अजीव तत्त्वों को अस्तिकाय कहा जिसका अभिप्राय यह है कि मात्र एक प्रदेशरूप अथवा एक अव-

यव रूप नहीं है किन्तु प्रचय अर्थात् समूह रूप है धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों प्रदेश प्रचयरूप हैं। और पुद्गल अवयय रूप तथा अवयव प्रचय रूप है।

अजीवतत्त्वोंके भेदोंमें कालकी गणना नहीं की जिसका कारण यह है कि इस विषयमें मत भेद है कोई कालको तत्त्व रूप मानते हैं कोई नहीं भी मानते। जो तत्त्व रूप मानने वाले हैं वे भी केवल प्रदेशात्मक मानते हैं किन्तु प्रदेश प्रचयरूप नहीं मानते इसलिये कालकी आस्तिकायों के साथ गणना नहीं हो सकती और जो काल को स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानने वाले हैं उनके मतानुसार काल तत्त्व रूप भेदोंमें हो ही नहीं सकता।

प्रश्न—क्या उपरोक्त चारों तत्त्व अन्य दर्शनियों को मान्य हैं ?

उत्तर—नहीं, केवल आकाश और पुद्गल इन दो तत्वों को वैशेपिक, न्याय, सांख्यादि अन्य दर्शनीय मानते हैं परन्तु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, इन दो तत्वोंको जैनदर्शन के सिवाय अन्य कोई भी दर्शन वाले नहीं मानते. जैनदर्शन जिसको आकाशास्तिकाय कहते हैं उसको दूसरे आकाश कहते हैं और पुद्गलास्तिकाय यह संज्ञा भी केवल जैनशास्त्रों में ही है। अन्य दर्शनीय तत्त्व स्थान में इसका प्रकृति या परमाणु शब्दों से उपयोग करते हैं॥ १॥

मूल द्रव्य कथन

द्रव्याणि जीवाश्च ॥ २ ॥

अर्थ—उक्त धर्मास्तिकायादि चारों अजीव तत्त्व और जीव ये पांचो द्रव्य हैं ॥ २ ॥

विवेचन—जैनदृष्टि के अनुसार जगत् केवल पर्याय अर्थात् परिवर्तन रूप ही नहीं है किन्तु परिवर्तनशील होते हुए भी अनादि निधन है । जैनमतानुसार जगत्में मुख्य पाच द्रव्य हैं और उन्हीं के नाम इन दो सूत्रों में बताये हैं।

वर्तमान सूत्रसे आगे कितनेक सूत्रों तक द्रव्यके सामान्य तथा विशेष धर्मों का वर्णन करके पुन इनके पारस्परिक साधर्म्य वधम्य भाव को बताया है । साधर्म्य का अर्थ सामान्यधम समानता, वधम्य का अर्थ विरुद्ध धर्म असमानता

प्रस्तुत सूत्र में जो द्रव्यत्व का विधान है। वह धर्मास्तिकायादि पाच पदार्थोंका द्रव्यत्वरूपसे साधम्य है और उसी में वैधम्यत्व भाव गुण पर्यायापेक्षी है क्योंकि गुण पर्याय हैं वे स्वय द्रव्य नहीं हैं । "गुणानामश्रयो द्रव्यम्" और पर्याय पलटन स्वभावी है ॥ २ ॥

मूल द्रव्य का साधर्म्य वैधर्म्य ।

नित्यावस्थितान्यरूपाणी ॥ ३ ॥

रूपिण. पुद्गला ॥ ४ ॥

आऽऽकाशादिकरूपाणि ॥ ५ ॥

निष्क्रियाणि च ॥ ६ ॥

अर्थ-पूर्वाक्त पाचो द्रव्य नित्य स्थिर और अरूपी हैं॥३॥
पुद्गल रूपी अर्थात् मूर्तामान है ॥ ४ ॥
आकाश पर्यन्त तीन द्रव्य एक एक हैं ॥ ५ ॥
और वे 'धर्माधर्माकाश' तीनों द्रव्य निष्क्रिय हैं ॥ ६ ॥

विवेचन—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव ये पांचों द्रव्यनित्य हैं, अर्थात् वे अपने अपने सामान्य विशेषत्व धर्म से कदापि च्युत नहीं होते "तद्भावाव्ययं" नित्यम् अ० ५ सू० ३०" यह वही है ऐसा प्रतिभिज्ञान हेतु रूप भाव को नित्य कहते हैं तथा उक्त पांचों अवस्थित रूप हैं वे अपनी पंचत्व संख्यासे न्यूनाधिक नहीं होते । स्वावस्था अवस्थित है और धर्म, अधर्म, आकाश तथा जीव ये चारोंद्रव्य अरूपी हैं परन्तु पुद्गल द्रव्य रूपी है । नित्यत्व तथा अवस्थितत्व इन दोनों का पांच द्रव्यों में साधर्म है और अरूपीत्व पुद्गल को छोड़ के शेष चार द्रव्यों का साधर्म्य है । धर्मादि चार द्रव्य अरूपी अर्थात् आकार-मूर्त्ति तथा तद् विषयी वर्ण, गंध, रस, स्पर्श रहित होने से समान धर्मी हैं ।

प्रश्न—नित्यत्व और अवस्थितत्व के शब्दार्थ में क्या विशेषता है ?

उत्तर—अपने अपने सामान्य विशेष स्वरूप से च्युत न होना ही नित्यत्व है और स्व-स्वरूप में कायम रहते हुए अन्य स्वरूप को प्राप्त न होना अवस्थित् धर्म है । जैसे-जीवतत्त्व अपनेद्रव्यात्मक समान्य रूप को और चेतनात्मक विशेष रूप को कभी नहीं त्यागन करता यह नित्यत्व है और उक्त स्वरूप को छोड़े विना अजीवतत्व के स्वरूप को प्राप्त नहीं करता यह अवस्थितत्व है । साराश यह है कि अपने स्वरूप को त्यागन करना-और-अन्य स्वरूप को धारण करना ये दोनों अंशधर्म सब द्रव्यों मे सामान्य रूप है । तथापि इससे पहला अंश नित्यत्व और दूसरा अंश अवस्थितत्व कहलाता है । द्रव्य के नित्यत्व कथन से जगत् की—

सात्वतता सूचित होती है और अवस्थितत्व कथन से इनका परस्पर मिश्रण नहीं होता अर्थात् असंकरता सूचक है। सब द्रव्य परिवर्तनशील होते हुये भी स्व स्वरूप में स्थित रहते हैं और एक साथ रहते हुये भी एक दूसरे के स्वभाव को स्पर्श नहीं करते इसीलिये जगत् अनादिनिधन है और मूल तत्वों की संख्या अपरिवर्तनशील है।

प्रश्न—धर्मास्तिकायादि अजीवतत्व यदि द्रव्य और तत्व हैं तो इसका कोई स्वरूप अवश्य मानना पड़ेगा ? तब वे अरूपी कैसे ?

उत्तर—अरूपीपन से स्वरूप निषेध नहीं होता। धर्मास्तिकायादि सर्व तत्वों का स्वरूप अवश्य है बिना स्वरूप के वस्तु सिद्ध नहीं होती जैसे शशिश्रृंग या आकाश पुष्पवत् अरूपीत्व कथन से रूप अर्थात् मूर्तिपन का निषेध है। रूप का अर्थ यहां मूर्तित्व है। रूप आकार विशेष अथवा रूप वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श के समुदाय को मूर्ति कहते हैं इस मूर्तित्व का धर्मास्तिकायादि चार तत्वों में अभाव माना है। परन्तु स्वरूप मानने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती और न वह अरूपीत्व का बाधक है।

रूप, मूर्तत्व, मूर्ति ये शब्द सामानार्थक हैं। रूप रसादि जो गुण इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाय ये इन्द्रिय ग्राह्य गुण ही मूर्ति हैं और वे रूप रसादि पुद्गल में पाये जाते हैं इसलिये पुद्गल ही रूपी है। इसके सिवाय अन्य कोई द्रव्य मूर्तिमान नहीं है क्योंकि वे "धर्माधर्माकाशजीव" इन्द्रिय अग्राह्य हैं। रूपीत्व के कारण ही [illegible] त्यादि चार

तत्वों की असमानता होने से परस्पर वैधर्म्य भाव उत्पन्न होता है। अर्थात् असामानता को ही वैधर्म्य कहते हैं।

यद्यपि परमाणु पुद्गल अति सूक्ष्म होने से अतीन्द्रिय हैं। उसके गुण इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं होते तथापि विशिष्ट परिणाम रूप किसी अवस्था में वे इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। इसी कारण वे अतीन्द्रिय होते हुवे भी रूपी कहलाते हैं और धर्मास्तिकायादि जो चार द्रव्य अरूपी हैं वे इन्द्रिय ग्राह्य किसी अवस्था में हो ही नहीं सकते क्योंकि उनमें वह योग्यता ही नहीं हैं। योग्यता के भावाभव से ही अतीन्द्रिय परमाणु पुद्गल तथा धर्मास्तिकायादि को रूपी अरूपी माना है।

उपरोक्त पांच द्रव्यों में तीन द्रव्य "धर्माधर्माकाश" एक एक व्यक्ति रूप हैं अर्थात् एकेक पिंड रूप हैं वे पृथक रूप से दो, तीन आदि नहीं है, और निष्क्रिय अर्थात् क्रिया रहित हैं। एक व्यक्तित्व तथा निष्क्रियत्व ये दोनों धर्मो का उक्त तीन द्रव्यों में साधर्म्य है जीव तथा पुद्गल अनेक व्यक्ति रूप हैं और क्रियाशील हैं। धर्मास्तिकायादि तीनों द्रव्य को निष्क्रिय कहा है सो वे जीव, पुद्गल के समान चल भाव को प्राप्त हो कर प्रदेशान्तर गमन क्रिया नहीं करते परन्तु वे अपने चलन सहायादि गुणों से सक्रिय कहे जा सकते हैं क्योंकि वे गुण अपनी अपनी क्रिया में नित्य प्रवर्तनशील हैं।

जीव के विषय अन्यदार्शनिकों का जैसा मन्तव्य है वैसा जैनदर्शन नहीं मानते। जैसे-वेदान्तिक आत्म द्रव्य को एक व्यक्ति रूप मानते है और सांख्य तथा वैशेषिकादि वेदा-

न्तिक के समान एक द्रव्य मान कर निष्क्रिय नहीं मानते और जैनदर्शन इसको अनेक तथा क्रियाशील मानते है।

प्रश्न—जैनदर्शन पर्यायपरिणमन रूप उत्पाद व्यय सब द्रव्योंमें मानते हैं। यह परिणमन क्रियाशील द्रव्यों में हो सकता है, अक्रिय द्रव्यों मे कैसे मानते हो ?

उत्तर—यहाँ निष्क्रियत्व से गति क्रिया का निषेध है। किन्तु क्रिया मात्रका नहीं अर्थात् निष्क्रिय "धर्माधर्माकाश" द्रव्य का अर्थ जैनदर्शन में मात्र गति शून्य द्रव्य माना है और उन धर्मास्तिकायादि गति शून्य द्रव्यों में भी चलन सहायादि गुण अपने २ विषय का उत्पाद, व्यय रूप माना है जैनदर्शन " उत्पादव्ययध्रुवयुक्तमत् " इसको द्रव्य का लक्षण मानते हैं। ॥ ३-६ ॥

प्रदेश संख्या विचार

असंख्येयाः प्रदेशाधर्माधर्मयोः ॥ ७ ॥

जीवस्य च ॥ ८ ॥

आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

नाणो ॥ ११ ॥

अर्थ—धर्मास्ति० अधर्मास्ति० के असंख्यात प्रदेश हैं ॥७॥
और एक जीव के प्रदेश असंख्यात हैं ॥ ८ ॥
आकाश अनन्त प्रदेशी है ॥ ९ ॥
पुद्गल द्रव्य के संख्याते असंख्याते अनन्ते प्रदेश हैं ॥१०॥
अणु "परमाणु" अप्रदेशी है। ॥११॥

विवेचन—धर्मादि चार अजीव और पांचवाँ जीव इन पॉच द्रव्यों को वर्त्तमान अध्याय के प्रथम सूत्र में काय संज्ञक = कायवान वा अस्तिकाय शब्द से सूचित किया है अर्थात् प्रदेश प्रचयरूप माना है उन प्रदेशों की संख्या का क्या नियम है ? इसी का यह उत्तर है । परमाणु को छोड़ के सब द्रव्यों के प्रदेश होते हैं. परमाणु और प्रदेश की अव गाहना तुल्य है प्रदेश वस्तु "द्रव्य" से व्यतिरेक = बिलकुल भिन्न रूप से कदापि उपलब्ध नहीं होता ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इन दोनों के असंख्यात २ प्रदेश हैं प्रदेश द्रव्य के सूक्ष्म अंश को कहते हैं जिसके विभाग की कल्पना सर्वज्ञ की बुद्धि से भी नहीं हो सकती ऐसे अविभाज्य सूक्ष्म अंशको निरंश अंश भी कहते हैं । धर्म० अधर्म० ये दोनों एक एक व्यक्ति रूप हैं । इनके प्रदेश "अवि भाज्य अंश" असंख्यात २ हैं इससे यह फलित होता है कि उक्त दोनों द्रव्य एक ऐसे अखंड स्कंध रूप द्रव्य हैं कि जिसके असंख्यात अविभाज्य सूक्ष्मअंश केवल बुद्धि से कल्पित किये जाते हैं । वे वस्तुभूत स्कन्ध से पृथक नहीं होते ॥ ७ ॥

जीव द्रव्य व्यक्तिरूप से अनन्त हैं और प्रत्येक जीव व्यक्ति गत एक अखंड वस्तु धर्मास्तिकाय के समान असंख्यात प्रदेश परिमाणवाला है ॥ ८ ॥

पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध धर्मादि चार द्रव्यों के समान नियत रूप नहीं है । वे कोई संख्यात, कोई असंख्यात कोई अनन्त प्रदेशी हैं और कई अनन्तानन्त प्रदेशी भी हैं ॥ १० ॥

पुद्गल और अन्य द्रव्योंके प्रदेशोंमें परस्पर यह भिन्नता

है कि पुद्गल के प्रदेश अपने स्कन्ध से जुदे हो सकते है परन्तु धर्मादि चार द्रव्य के प्रदेश अपने स्कन्ध से पृथक नहीं हो सकते क्योंकि वे अमूर्त्त है और अखंडित रहना उनका स्वभाव है । मिलने, बिखरने की क्रिया केवल पुद्गल स्कन्धो में ही होती है और उनके छोटे बडे अंशोको अवयव कहते है। अवयव का अर्थ स्कन्ध से पृथक होने वाला अश है वह धर्मादि चार द्रव्य और परमाणु के नहीं होता ।

मूर्त्तिमान एक परमाणु पुद्गलरूप द्रव्य है उसका आदि मध्य और प्रदेश नहीं है। वह अविभाज्य द्रव्य है। उसके अशकी कल्पना बुद्धि से भी नहीं की जाती । यह पुद्गल का वास्तविक स्वरूप है और द्वणुकादि स्कन्धों की उत्पत्ति भी इसीसे है,"कारणमेव सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणु," यह परमाणु का लक्षण है। द्वेणुकादिसे यावत् अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्धों का कारण परमाणु है परन्तु परमाणु का कारण कोई नहीं है। यह द्रव्य व्यक्ति रूपसे निरंश और नित्य रूप है । परन्तु पर्याय रूप से ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि एक परमाणु मे भी वर्ण, गन्ध रस, स्पर्शादि अनेक पर्याय पाये जाते हैं इसलिये पर्याय से उसके अंश का भी कल्पना की गई है। वे परमाणु "द्रव्य" के भाव रूप अंश हैं एक व्यक्तिगत द्रव्य परमाणु मे वर्णादि भावपरमाणु अनेक माने गये है ।

प्रश्न—धर्मादि प्रदेश और पुद्गल परमाणु में भिन्नता क्या है ?

उत्तर—परिमाण की दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं है क्षेत्र परमाण दोनों का तुल्य है। और वे अविभाज्य अंश है तथापि एक आकाश प्रदेश की अवगाह में जैसे अनन्त परमाणु समा सकते हैं ऐसा स्वभाव धर्माधर्माकाश के प्रदेशों का नहीं है परमाणु जैसे

अपने द्वैणुकादि स्कन्ध से पृथक रहता है वैसे प्रदेश अपने स्कन्ध से अलग नहीं होते। यद्यपि तत्परिमित परिमाण की दृष्टि से प्रदेश और परमाणु तुल्य हैं तथापि भिन्न स्वभावी हैं।

प्रश्न—पुद्गल द्रव्य के लिये अनन्त पद की आवृत्ति पूर्व सूत्र से ले सकते हो परन्तु अनन्तानन्त पदकी व्याख्या किस सूत्र के अधार पर है ?

उत्तर—अनन्त पद सामान्य है वह सब प्रकार के अनन्तोंका बोध करा सकता है इसलिये वर्त्तमान अध्याय के ९ वें सूत्र की अनुवृत्ति से उक्त अर्थ किया गया है ॥ ७-११ ॥

द्रव्य की स्थिति का विचार

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥
धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥
एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥
असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥
प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

अर्थ—जो अवगाही अर्थात् रहने वाले द्रव्य हैं वे उनका अवगाह "स्थिति स्थान" लोकाकाश है ॥ १२ ॥

धर्माधर्म की स्थिति "अवगाह स्थान" समग्र लोकाकाश है ॥ १३ ॥

पुद्गल द्रव्यों का अवगाह आकाश के एकादि प्रदेशों में विकल्प अर्थात् अनियत रूप से है ॥ १४ ॥

जीवों की स्थिति लोकके असंख्येय भागादि में होती है ॥ १५ ॥

उन "जीवों" के प्रदेश प्रदीप के समान संकोच विस्तार वाले हैं ॥ १६ ॥

विवेचन—संसार में पांच द्रव्य अस्तिकाय रूप हैं। इनमें आधाराधेय भाव किस प्रकार है? क्या इनके आधार के लिये इन से कोई भिन्न द्रव्य है? अथवा इन पांचों में ही कोई एक द्रव्य आधार रूप है? इसी उत्तर के लिये प्रस्तुत सूत्र है। स्थिति करने वाले द्रव्यों को आधेय कहते हैं और वे जिस मे स्थित हों वह आधार है। उक्त पांच द्रव्यों में आकाश आधार रूप है और शेष चार द्रव्य आधेय हैं यह उत्तर केवल व्यवहार दृष्टि से है किन्तु निश्चयदृष्टि से नहीं। निश्चयदृष्टि से सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठित हैं अर्थात् अपने अपने स्वरूप मे स्थित हैं कोई किसी में नहीं रहता।

प्रश्न—व्यवहार दृष्टि से धर्मादि चार द्रव्यों का आधार आकाश माना जाता है तो आकाश का आधार क्या है?

उत्तर—आकाश को किसी द्रव्य का आधार नहीं है क्योंकि इससे विस्तीर्ण या इसके बराबर परिमाण वाला कोई पदार्थ नहीं है। इसलिये व्यवहार तथा निश्चय दृष्टि से आकाश स्वप्रतिष्ठित ही है अन्य धर्मादि द्रव्य इससे न्यून परिमाण वाले हैं आकाश के एक देश तुल्य हैं इस हेतु से आधाराधेय "अव-गाहावगाही' भाव माना गया है। आकाश सबसे बड़ा द्रव्य है।

आधेयभूत धर्मादि चारों द्रव्य समग्र आकाश व्यापी नहीं हैं। आकाश के एक परिमित भाग में स्थित हैं जितने भाग में वे स्थित हैं उस आकाश विभाग का नाम लोक है। पांच अस्तिकाय रूप ही लोक है, इसके परे केवल आकाश अनन्त रूप है, उसको अलोकाकाश कहते हैं। अन्य द्रव्यों का अभाव होना अलोक कहलाता है और उक्त कारणों से आधाराधेय भाव भी होता है।

धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय ये दोनों अखंड द्रव्य हैं

और सम्पूर्ण लोक में स्थित है वास्तविक रूप देखा जाय तो आकाश द्रव्य के दो विभाग की कल्पना युक्ति, इन्हीं दो द्रव्यों से होती है और लोकालोक की मर्यादा का सम्बन्ध भी इन्ही से है।

पुद्गल द्रव्य का आधार समानतया लोकाकाश ही नीयत है तथापि उन पुद्गल द्रव्यों की भिन्नता "पृथकता" के कारण आधार क्षेत्र के परिणाम में भी न्यूनाधिकता होती है पुद्गल द्रव्य धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय के समान व्यक्तितः एक द्रव्य नहीं है। इसलिये इसके आधार क्षेत्र की भी संभावना एक रूप से नहीं की जासकती पुद्गल द्रव्य विविध प्रकार से अनेक रूप हैं इसलिये क्षेत्र परिणाम भी अनेक हैं जैसे कोई पुद्गल लोकाकाश एक प्रदेशावगाही है, कोई दो प्रदेश कोई तीन यावत् संख्यात, असंख्यात प्रदेश अवगाही भी है। तात्पर्य यह है कि आधार भूत क्षेत्र के प्रदेशों की संख्या आधेय भूत पुद्गल द्रव्य के परमाणुओं की संख्या से न्यून या बराबरी की होसकती है परन्तु आधेय के प्रदेशों से आधार के प्रदेशों की संख्या अधिक नहीं होती, इसलिये एक परमाणु एक आकाश प्रदेश में, द्व्यणुक एक या दो प्रदेश में इसी तरह उत्तरोत्तर संख्याता अणुक स्कन्ध एक प्रदेश, दो प्रदेश यावत् संख्याता आकाश, प्रदेश अवगाह के रहता है, परन्तु संख्याता प्रदेशी स्कन्ध के लिये असंख्याता प्रदेशी क्षेत्र की आवश्यकता नहीं रहती-एवम् असंख्याता अणुक स्कन्ध भी एक प्रदेश से यावत् अपने बराबरी के प्रदेशों में स्थित रहता है और अनन्त अणुक तथा अनन्तानन्त अणुक स्कन्ध भी एक प्रदेश से यावत् असंख्याता प्रदेश क्षेत्र में रहता है। इसके लिये अनन्त प्रदेशी क्षेत्र की आवश्यकता नहीं रहती। सबसे बड़ा अचित महा स्कन्ध अनन्तानन्त अणुओं का होता है वह भी लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशावगाही है।

जैन दर्शन में आत्मा का परिमाण आकाश के समान व्यापक नहीं है किन्तु मध्यम परिमाण वाला माना है। वह मध्यम परिमाण प्रदेशों की संख्या दृष्टि से समान अर्थात् तुल्य या सदृश रूप है परन्तु आधार क्षेत्र सबका एक समान नहीं है उसका कारण शरीर नाम कर्म की न्यूनाधिकता पर निर्भर है।

प्रश्न—तबतो जीव द्रव्य का आधार क्षेत्र न्यून से न्यून और अधिक से अधिक कितना मानना चाहिये?

उत्तर—जिस समय जीव के सूक्ष्म नाम कर्म का उदय होता है उस समय एक आकाश प्रदेश पर अनन्त जीव एक पिंड-रूप सूक्ष्म शरीर को धारण करके रहते हैं और बादर और प्रत्येक नाम कर्म के उदय से एक जीव का आधार क्षेत्र लोकाकाश के असंख्याते भाग से यावत् सम्पूर्ण लोकवर्त्ती होता है अर्थात् एक जीव का आधार क्षेत्र कमसे कम अंगुल का असंख्यातवाँ भाग बताया है। उस अंगुल के असंख्यातवें भाग में भी आकाश के असंख्याते प्रदेश होते हैं सम्पूर्ण लोकाकाश के असंख्याते आकाश प्रदेश कहे गये हैं परन्तु उस असंख्यात का परिमाण इतना अधिक है कि असंख्यात भाग में भी असंख्यात प्रदेश रहते हैं उस छोटे से छोटे एक विभाग में भी एक जीव रह सकता है। दो विभाग मे भी एक जीव रह सकता है। तीन, चार, पाच यावत् सम्पूर्ण लोकवर्त्ती भी एक जीव होता है सम्पूर्ण लोकाकाशवर्त्ती अवस्था केवली समुद्घात समय की है अन्यथा शरीर के परिमाण की न्यूनाधिकता से आकाश के प्रदेशो की न्यूनाधिकता मानी गई है। बादर जीवों के शरीर का परिमाण सब का सदृश रूप नहीं होता। उपरोक्त अवगाहना एक जीवापेक्षी है सम्पूर्ण जीव राशि की अपेक्षा से जीवतत्त्व का आधार क्षेत्र सम्पूर्ण लोकाकाश ही है

प्रश्न—तुल्य प्रदेश वाले जीवों में शरीर की न्यूनाधिकता किस कारण से होती है? एक ही जीव काल भेद से न्यूनाधिक परिमाण वाला होता है इसका क्या कारण है?

उत्तर—कर्मों की विचित्रता से जीव की विविधता दिखाई देती है। कर्मों का जीव के साथ अनादि सम्बन्ध है और वे सब जीवों के एक समान नहीं होते। तथा न प्रत्येक जीवके ही सदा एक समान रहते हैं। जिस समय कर्मों का जैसा उदय भाव होता है उस समय वैसी ही शरीर की विविधता दिखाई देती है। औदारिकादि शरीर है वे भी कर्मों के अनुसार छोटे बड़े होते हैं वस्तुतः जीव अमूर्त्त है परन्तु अनन्तानन्त अणु प्रचय-रूप अनन्त कर्म पुद्गलों के सम्बन्ध से जीव मूर्त्तिमान होजाता है।

प्रश्न—धर्मास्तिकायादि के समान जीव द्रव्य भी अमूर्त्त है, तो धर्मास्तिकायादि के मानने में न्यूनाधिकपना नहीं होता और जीव में होता है इसका क्या कारण है?

उत्तर—वस्तु अनेक स्वभावी है और प्रत्येक पदार्थ के स्वभाव भिन्न भिन्न हुवा करते हैं उनमें से कितनेक स्वभाव कई पदार्थों में एक समान होते हैं जैसे धर्मास्तिकायादि में अमूर्तत्व और कितनेक स्वभावों में परस्पर भिन्नता होती है इसलिये जीव के स्वभाव भेद का ही कारण है कि वह निमित्त पाकर प्रदीप के प्रकाशवत् संकोच विकास को प्राप्त होता है जैसे-प्रदीप खुली जगह में रखदिया जाय तो उसके प्रकाश का प्रसार पूर्णतया होगा और यदि उसीको परिमित स्थान में रक्खा जाय तो स्थान के अनुसार ही उसका प्रकाश प्रसारित होगा वैसे ही जीव भी नाम कर्म के उदयिक भावानुसार औदारिकादि नाना शरीर को धारण करता हुवा तदनुसार न्यूनाधिक परिमाण वाला दिखाई देता है।

प्रश्न—जीव का संकोच स्वभाव है तो वह आकाश के एक, दो तीन आदि संख्यात प्रदेश की अवगाह में क्यों नहीं समाता? इसीतरह विकास स्वभाव वाला है तो लोक के समान अलोक में व्याप्त क्यों नहीं होता?

उत्तर—संकोच की मर्यादा कार्मण शरीर पर है और वह (कार्मण शरीर) अंगुल के असंख्यातवें भाग से न्यून नहीं होता इसलियेजीव का संकोच पना भी कार्मण शरीर की संकोचित विकसित अवस्था पर निर्भर है। और विकाश की मर्यादा लोकाकाश पर्यन्त मानी गई है जिसके दो कारण हैं पहिला कारण यह है कि एक जीव के प्रदेश और लोकाकाश के प्रदेश तुल्य हैं इस लिये पूर्ण निश्चित अवस्था में लोक के प्रत्येक आकाश प्रदेश पर स्व प्रदेशों को स्थापित करता है इस से परे स्थापित करने के लिये प्रदेश ही अधिक नहीं है दूसरा कारण गति कार्य है वह धर्मास्तिकाय के बिना हो नहीं सकता। इसीलिये अलोकाकाश में जीव की व्याप्ति नहीं है उपरोक्त दशा संसारी सकर्मावस्था विषयी है शरीर की अवस्था के अनुसार प्रदीप के प्रकाशवत् उनके प्रदेश संकोच और विकास को प्राप्त होते हैं सिद्धावस्था की अवगाहना अन्तिम शरीर के त्रिभाग से किंचित् न्यून मानी गई है अर्थात् वह भी लोक के असंख्येय भाग व्यापी है।

प्रश्न—असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश में अनन्त मूर्तिमान परमाणुओं से निष्पन्न शरीर धारी अनन्त जीव कैसे समा सकते हैं?

उत्तर—सूक्ष्मत्व परिणाम भावी होने से निगोद तथा साधारण अवस्था में औदारिक शरीरी अनन्त जीव एक साथ एक आकाश प्रदेश पर रहते हैं। पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त मूर्तो-

मान हैं तथापि इनमें सूक्ष्मत्व भाव परिणत होने की शक्ति है। तद्‌रूप सूक्ष्म भाव प्राप्त होने से एकाकाश प्रदेश पर वे भी समा-जाते हैं और एक दूसरे के व्याघात किये विना अनन्तानन्त स्कन्ध भी उसी स्थान को प्राप्त करते हैं जैसे-एक दीपक का प्रकाश दूसरे दीपक के प्रकाश में विना व्याघात समाजाता है।

स्थूल भाव में जब पुद्गल परिणत होता है तब वह व्याघातशील होता है। सूक्ष्मत्व परिणमन दशा में न वह किसी को व्याघात पहुँचाता और न स्वयम किसी से व्याघात होता है। १२-१६॥

धर्माधर्माकाश का लक्षण

गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः   ॥ १७ ॥

आकाशस्यावगाहः   ॥ १८ ॥

अर्थ—गति और स्थिति में निमित्तक होना अनुक्रम से धर्म अधर्म द्रव्य का उपकार "गुण" है ॥ १७ ॥

अवकाश के लिये निमित्त होना, आकाश द्रव्य का कार्य है ॥ १८ ॥

विवेचन—धर्मास्ति० अधर्मास्ति० आकाशास्ति० ये तीनों द्रव्य अमूर्त्तक होने से इन्द्रिय अगोचर हैं। अर्थात् इनकी सिद्धि लौकिक प्रत्यक्ष "इन्द्रियों" द्वारा नहीं हो सकती । आगम प्रमाण से अस्तित्व माना जाता है वह आगम प्रमाण युक्तिशः तर्क की कसौटी पर चढ़ा हुवा अस्तित्व को सिद्ध करता है कि संसार में गतिशील और गतिपूर्वक स्थितिशील पदार्थ जीव और पुद्गल दो द्रव्य हैं यह गति, स्थिति दोनों धर्म उक्त दो द्रव्यों का परिणमन तथा कार्य होने से इन्हीं से उत्पन्न होना है अर्थात् गति

स्थिति का उपादान कारण जीव और पुद्गल ही है। तथापि कार्य की उत्पत्ति के लिये निमित्त कारण की अपेक्षा रहती है और वह उपादान कारण से भिन्न होना चाहिये इसलिये जीव और पुद्गल की गति के लिये निमित्त रूप धर्मास्ति० और स्थिति में निमित्त रूप अधर्मास्तिकाय की सिद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रों में धर्मास्तिकाय का लक्षण गतिशील पदार्थों की गति में निमित्त होना और अधर्मास्तिकाय का लक्षण स्थिति में नैमित्तिक होना यही बतलाया है।

धर्मास्ति० अधर्मास्ति० जीवास्ति० और पुद्गलास्ति० ये चारों द्रव्य किसी न किसी जगह स्थित हैं अर्थात् आधेय होना अवकाश लेना इनका काम है परन्तु अवकाशस्थान देना यह आकाशास्ति० का कार्य है इसलिये अवगाह रूप लक्षण आकाशास्तिकाय का माना गया है।

प्रश्न—सांख्य, न्याय वैशेषिकादि दर्शन वाले आकाश द्रव्य मानते हैं परन्तु धर्मास्ति० अधर्मास्ति० को वे नहीं मानते तथापि जैन इन्हें किसलिये स्वीकार करते हैं?

उत्तर—दृश्य और अदृश्य रूप जड़ और चेतन्य ये दोनों विश्व के मुख्य अंग माने गये हैं इनमें गति शीलता तो अनुभव सिद्ध ही है इसलिये कोई नियमिक "गतिशील" * तत्व सहायक न होने से द्रव्य अपनी गतिशीलता के कारण अनन्ताकाश में किसी भी जगह न रुकते हुए यदि चलते ही रहें तो इस दृश्या

---

*वर्तमान के वैज्ञानिकों ने भी यह सिद्ध कर लिया है कि संसार में एक ऐसा गतिदायी पदार्थ है जो गत्यादि क्रिया में सबको सहायक रूप है जिसे जैन परिभाषा में धर्मास्तिकाय कहते हैं।

दृश्य विश्व का नियत स्थान "लोकका मान" जो सदा सामान्य रूप से एकसा मानागया है वह नहीं घट सकता अनन्त जीव और अनन्त पुद्गल व्यक्तिः अनन्त परिमाण वाले विस्तृत आकाश क्षेत्र में बिना रुकावट संचार करते रहेंगे तो वे ऐसे पृथक् हो-जायेंगे कि उनका फिरसे दुबारा मिलना कठिन होजायगा इसलिये गतिशील द्रव्यों की गति मर्यादा को नियंत्रित करता तत्व जैन दर्शन स्वीकार करते हैं और उसी तत्व को धर्मास्तिकाय कहते हैं उपरोक्त गति मर्यादा का नियामक "चलन सहायक" तत्व स्वीकार करने पर उसके प्रतिपक्षी की आवश्यकता रहती है इसीलिये स्थिति मर्यादा के नियामक रूप अधर्मास्तिकाय को तत्व रूप स्वीकार करते है !

जैनेतर पूर्व, पश्चिमादि व्यवहार जो दिग् द्रव्य का कार्य मानते हैं वह आकाश से पृथक् नहीं है उसकी उत्पत्ति आकाश द्वारा हीं होती है, इसलिये जैसे दग् द्रव्य को आकाश से पृथक मानना अनावश्यक है वैसे धर्मास्ति० अधर्मास्ति० द्रव्य का कार्य केवल आकाश से सिद्ध नहीं हो सकता यदि आकाश ही को गति, स्थितिका नियामक "प्रेरक" मान लिया जायतो वह अनन्त अखंड द्रव्य है जड़, चैतन्य को सर्वत्र गति, स्थिति करते रोक नहीं सकता और विश्व के नियत संस्थान की अनुपपत्ति हो जायेगी इसलिये धर्म० अधर्म० द्रव्य को आकाश द्रव्य से स्वतंत्र मानना न्याय संयुक्त हैं। जड़ और चैतन्य गति शील हैं तथापि मर्यादित आकाश क्षेत्र में उनकी गति नियामक विना अपने स्वभाव से मर्यादित नहीं मानी जासकती इसलिये धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय द्रव्य का अस्तित्व युक्तिशः सिद्ध होता है ।

आकाश द्रव्य का कार्य अवगाह-दान है अर्थात् जो

अवगाही "धर्माधर्माकाशजीव" द्रव्य है उन पर अवगाह देनेका उपकार आकाशास्तिकाय द्रव्य का है ।७-१८॥

पुद्गल का लक्षण ।

शरीरवाङ्मन प्राणापाना पुद्गलानाम ॥ १९ ॥
सुखदु खजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

अर्थ—शरीर, वाक्, मन, निश्वास और उश्वास यह जीव को पुद्गलों का सहायक रूप उपकार है ॥ १९ ॥

तथ, सुख दुःख, जीवन और मरण के लिये भी पुद्गल सहायक है ॥ २० ॥

विवेचन—पुद्गल का मूल स्वरूप परमाणु रूप है। यथा—एक रसवर्णगन्धाद्विस्पर्श कार्य लिंगीत्र । पूरण गलन स्वभाव पुद्गलास्तिकाय स च परमाणु रूप ॥ एक परमाणु में एक रस, एक वर्ण, एक गंध, और दो स्पर्श होते हैं और वह कार्य लिंगी है। द्वयणुकादिस्कन्धों से यावत् अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्धों का उपादान कारण यही है और सम्मिलित होना तथा बिखर जाना इसका मुख्य स्वभाव है

द्वयणुकादि स्कन्ध से यावत् अनन्ताणुक स्कन्ध पर्यन्त जीव को अग्राह्य है जो अनन्तानन्त अणुस्कन्ध है वे ग्राह्य अग्राह्य दो प्रकार के हैं। इनकी वर्गणा स्वरूप कर्म ग्रन्थादि ग्रन्थ से और जो ग्राह्य वर्गणा है वह भी दो प्रकार की है । एक सूक्ष्म और दूसरा बादर सूक्ष्म है वह चौफरशी और बादर अठफरशी इसका वर्णन भगवती सूत्र श० १२ उ० ४ में है।

प्रश्न—आठ और चार स्पर्शों के क्या नाम हैं ?

उत्तर—आठ स्पर्शों के नाम हैं। यथाः—

फासा गुरु लहु मिउ खर सी उण्ह सिणिद्ध रुक्खट्ठा॥

यह पहले कर्म ग्रन्थ की ४१ वीं गाथा का उत्तरार्द्ध है। इसमें आठों स्पर्श के नाम बताये हैं। भारी, हलका, मृदु, खर, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष। उक्त आठ स्पर्शवाले स्कन्ध इन्द्रिय गोचर हैं. कर्मवर्गणादि सूक्ष्म स्कन्धों के चार स्वरूप होते हैं यथाः—

अन्तिम चउफास दुगंधपंच वन्नरस कम्म खंधदल।
सव जिअणंत गुण रस अणुजुत मणंत पएसं॥ ७८॥

यह पंचम ग्रन्थ की ७८ वीं गाथा है पूर्वोक्त आठ स्पर्शों में से अन्त के चार "शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, स्पर्श, दो गंध, पाँच वर्ण पांच रस वाले अनन्त प्रदेशी स्कन्ध सब जीवों से अनन्त गुणे रसवाले अणुवों संयुक्त अनन्तानन्त प्रदेश वाले होते हैं। एक परमाणु में दो स्पर्श (उक्त चार स्पर्शों के प्रतिपक्षी शीत, स्निग्ध या उष्ण, रुक्ष) एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस एवं पांच बोल पाये जाते हैं।

पौद्गलिक अनेक कार्यों में से कतिपय कार्य जीव को सहायक रूप हैं उनमें से शरीरादि कितनेक नाम सूत्रकारने बताये हैं वे संसारी जीवों पर अनुग्रह विग्रह अर्थात् हिताहित के करने वाले हैं।

शरीर—औदारिकादि शरीर पौद्गलिक हैं। इनमें कई इन्द्रिय गोचर और कई अतीन्द्रिय हैं। और संसारी जीवों से नित्य सम्बन्ध रखने वाले हैं। जो मरके गत्यान्तर होने के समय भी पृथक नहीं होते। उस समय जो साथ रहता है वह कार्मण

शरीर है, इन्द्रिय अगोचर है तथापि औदारिकादि शरीरों का उत्पादक और उनके द्वारा सुख दुःखादि विपाकोंको देने वाला है।

भाषा—दो प्रकार की होती है (१) द्रव्य भाषा (२) भाव भाषा जो वीर्यान्तराय तथा मतिज्ञानावरण, श्रुत ज्ञानावरण के क्षयोपशम से वा आंगोपांग नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई शक्ति विशिष्ट को भाव भाषा कहते हैं वह पुद्गल सापेक्ष होने से पौद्गलिक है। वे भाषा वर्गणा के स्कन्ध आत्म-शक्ति द्वारा प्रेरित होके वचन रूप में परिणत हों उसको द्रव्य भाषा कहते हैं।

मन—लब्धि तथा उपयोग भाव मन है वह उदयिक भाव प्रवर्तित पुद्गलावलम्बित होने से पौद्गलिक है ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम और अंगोपांग नाम कर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्ध हैं वे गुण दोष विवेचन तथा स्मरणादि अनेक कार्य अभिमुख आत्मा के सामर्थ्य उत्तेज रूप होकर अनुग्रह निग्रह अर्थात् हिताहित करने वाले हों उसे द्रव्य मन कहते हैं। केवली को ज्ञानवरण तथा वीर्यान्तराय का क्षयोपशम नहीं है तथापि उदयिक भाव प्रवर्तित नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों को ग्रहण कर उससे केवल गुण दोष विवेचन कार्य करते है। इसी तरह आत्मा के उदर द्वारा निकला हुआ निश्वास वायु प्राण कहलाता है-और प्रवेश करता हुआ उश्वास वायु अपान कहलाता है। दोनों पौद्गलिक और जीवप्रद होने से आत्मा को अनुग्रह निग्रह कारी है।

भाषा, मन प्राण और अपान ये सब व्याघात तथा अभिभव अर्थात् उत्पत्ति और विनाश वाले है इसलिये शरीर के समान पौद्गलिक हैं जीव का प्रीति " रति ' रूप परिणाम ही सुख है। उसका अन्तरंग कारण साता वेदनी कर्म का उदय है और

बाह्य कारण द्रव्य, क्षेत्र आदि से उत्पन्न होता है। इससे विपरीत अनिष्ट भाव दुःख है परन्तु बाह्य कारण इसका भी द्रव्य क्षेत्रादि ही है।

आयुष्य कर्म के उदय से देहधारी जीवों का श्वासोश्वास ही जीवन है। उसके उच्छेद को मरण कहते हैं। पूर्वोक्त सुख-दुखादि पर्याय जीवों में उत्पन्न होते हैं। परन्तु इनकी उत्पत्ति पुद्गल द्वारा होती है। इसलिये जीवों पर पुद्गल का उपकार माना जाता है ॥ १९-२० ॥

कार्य द्वारा जीव का लक्षण।

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

अर्थ—परस्पर कार्य में उपग्रह निमित्त होना जीव का उपकार है ॥ २१ ॥

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में जीवों के पारस्परिक उपकार का वर्णन है। एक जीव अन्य जीवों के लिये उपदेश द्वारा या हिताहित द्वारा उपकार करता है जैसे—मालिक पैसादि दे के नौकर पर उपकार करता है। नौकर हिताहित काम कर के मालिक पर उपकार करता है। इसी तरह गुरु सत्कर्मों के उपदेश द्वारा शिष्यादि जनता पर उपकार करता है और वे अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री द्वारा उनपर उपकार करते हैं।

काल लक्षण।

वर्त्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

अर्थ-वर्तना, परिणाम, क्रिया, और परत्वापरत्व "पहला पिछला" यह काल का उपकार है ॥ २२ ॥

विवेचन—नयचक्रादि अन्य ग्रन्थों में काल को उपचार मात्र से द्रव्य माना है वास्तव में यह पञ्चास्तिक अनन्तर भूत पर्याय रूप है। यथा—पञ्चास्तिकायान्तर भूत पर्याय रूप नैवास्य, ॥ तत्र काल उपचारेनैव द्रव्य नतु वस्तु वृत्या ॥ तथापि यहाँ काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानकर उसका उपकार बताते हैं जैसे अपने २ पर्याय की उत्पत्ति में स्वमेव प्रवर्तमान, धर्मादि द्रव्यों को प्रेरणा निमित्त हो उसको वर्तना कहते हैं। (वर्तना) (परिणाम) स्वजाति का बिना परित्याग किये द्रव्य का अपरिस्पन्द रूप (अचल) पर्याय जो पूर्वावस्था की निवृत्ति और उत्तरावस्था की उत्पत्ति रूप है उसको परिणाम कहते है। उक्त परिणाम जीव में ज्ञानादि तथा क्रोधादि रूप है पुद्गल में नील, पीत वर्णादि और शेष धर्मास्तिकायादि द्रव्यों में अगरूलघुगुण की हानि वृद्धि रूप है। पुनः इसके सादि अनादि भेदों का विवरण (अ० ५ सू० ४२ में) करेंगे। (३) गति रूप क्रिया यह काल का ही उपकार है (१) प्रयोगसा "प्रयलजन्य" (२) विश्वासा 'स्वाभाविक परिपाक जन्य" (३) मिश्रसा "उभयजन्य"। (४) परत्व अपरत्व, अर्थात् ज्येष्ठत्व कनिष्ठत्व अथवा परत्व, अपरत्व तीन प्रकार का है प्रशंसाकृत, क्षेत्रकृत और कालकृत-यथा-प्रशंसाकृत धर्म पर है और अधर्म अपर है, ज्ञान पर है अज्ञान अपर है इत्यादि। क्षेत्रकृत-एक देश स्थित जो पदार्थों के विषय जो दूर है वह पर और निकट है वह अपर। कालकृत-दश वर्षों की अपेक्षा बीस वर्षवाला पर है और बीसवर्ष की अपेक्षा—दस वर्ष वाला अपर है। उक्त वर्तनादि कार्य यथा संभव धर्मास्तिकायादि द्रव्यों का ही है। तथापि काल उस में निमित्त रूप कारण होने से उपकार रूप माना है॥ २२॥

पुद्गल के असाधारण पर्याय ।

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त पुद्गला ॥ २३ ॥

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च २४

अर्थ- पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले होते हैं ॥२३॥

और वे शब्द, बंध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत वाले भी हैं ॥ २४ ॥

विवेचन—बौद्ध दर्शनवाले पुद्गल को जीव अर्थ में व्यवहार करते हैं। वैशेषिकादि दर्शनवाले पृथ्व्यादि मूर्तीमान द्रव्यों में समान रूप से चतुरगुण, "स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण" नहीं मानते किन्तु पृथ्वि चतुर गुण, जल गंध रहित तीन गुण, तैजस गन्ध, रस रहित द्विगुण और वायु को मात्र एक स्पर्श गुण वाला ही मानते है, मन को स्पर्शादि चतुर गुण रहित मानते हैं, इसलिये अन्य दार्शनिकों से भिन्नता प्रगट करनी प्रस्तुत सूत्र का उद्देश है, वर्तमान सूत्र से यह सूचित होता है कि जीव और पुद्गल दोनों पदार्थ भिन्न स्वरूपी हैं. किन्तु पुद्गल शब्द का व्यवहार जीव तत्व में नहीं होता पृथ्वि, जल, तेज़, वायु सब पुद्गलत्व रूप से समान हैं अर्थात् ये स्पर्शादि चतुर गुण युक्त हैं और मन को भी जैनदर्शन वाले पौद्गलिक तथा स्पर्शादि चतुर गुण युक्त मानते हैं। वे पुद्गल स्कन्ध आठ स्पर्श वाले नहीं हैं किन्तु चार स्पर्शवाले सूक्ष्म इन्द्रिय अगोचर होते हैं. (

स्पर्श आठ (१) गुरु (२) लघु (३) मृदु (४) खर (५) शीत (६) उष्ण (७) स्निग्ध (८) रूक्ष । रस पांच (१) तिक्त (२) कटु (३) कसैला (४) आमिल (खट्टा) (५) मधुर । गन्ध दो (१) सुगन्ध (२) दुर्गन्ध । वर्ण पांच (१) कृष्ण (२) नील (३) लोहित (लाल) (४) पीत (पीला) (५) श्वेत उक्त स्पर्शादि २० वोल इन्द्रिय गोचर बादर पुद्गल स्कंधों में पाये जाते हैं और जो सूक्ष्म इन्द्रिय अगोचर है उनमें पूर्व के चार स्पर्श "गुरु, लघु, मृदु, खर" नहीं होते। शेष १६ बोल पाये जाते हैं और जो एक अणु रूप "परमाणु"

पुद्गल है उसमें अन्त के चार स्पर्शों में से दो प्रति पक्षी छोड़ के शेष कोई भी दो स्पर्श, एक रस, एक गन्ध और एक वर्ण होता है।

उपरोक्त स्पर्शादि २० भेद कहे हैं। प्रत्येक तारतम्यत्व भाव से संख्याते, असंख्याते और अनंत हैं। जैसे मृदु स्पर्शवाले जितने स्कन्ध (वस्तु) हैं वे सब सदृश रूप नहीं है किन्तु उनकी मृदुता में तारतम्य भाव है। मृदुत्व गुण समान रूप होते हुए भी उनकी तारतम्यता पर दृष्टिपात करने से अनेक भेद होते हैं इत्यादि २० भेदों के अनेक प्रभेद होते हैं ॥ २३ ॥

वैशेषिक, नैयायिकादि दर्शन वाले जैसे शब्द को गुण रूप मानते हैं वैसा जैन दर्शन का मन्तव्य नहीं है। जैन दर्शन वाले शब्द को भाषावर्गणा के पुद्गलों का एक परिणाम विशिष्ट मानते हैं वे निमित्त भेद से अनेक प्रकार हैं आत्म-प्रयत्न से उत्पन्न होने वाले शब्द को प्रयोगज कहते हैं और जो स्वत (विना प्रयत्न के) शब्द हैं, उसे विस्रसा कहते हैं। जैसे-बादलों की गर्जारव।

प्रयोगज शब्द के छः भेद हैं (१) भाषा—मनुष्यादि की व्यक्त और पक्षी आदिकी अव्यक्त रूप अनेक प्रकार की है।

(२) तत्—मुरज, मृदंग पटह आदि से

(३) वितत—वीणादि तात तार वाले वाजिंत्रों से

(५) सुषिर—बांसुरी, शंखादि

(४) घन—झालर घंटादि

(६) घर्ष—संघर्ष अर्थात् रगड़ से उत्पन्न होने वाले शब्द।

॥ बन्ध तीन प्रकार के होते हैं ॥

(१) परस्पर आश्लेष रूप से होनेवाले बन्ध को प्रयोगज कहते हैं जैसे पुरुषादि प्रयत्न से।

(२) रुक्ष, स्निग्ध वा परिपाकजन्य बन्ध को विस्रसा कहते हैं और तैसा स्निग्ध और रुक्ष पुद्गल परस्पर स्पृष्ट होने से बन्ध होता है। उसे मिश्र बन्ध कहते हैं। इनका आगे इसी अध्यायके ३२ वें सूत्र में विवेचन करेंगे।

सूक्ष्म दो प्रकार से है एक अन्त्य और दूसरा आपेक्षिक जो परमाणु रूप है वह अन्त्य सूक्ष्म है और द्व्यणुकादि स्कन्ध हैं वे सापेक्ष सूक्ष्म हैं। जैसे—आंवले से वेर सूक्ष्म है और आम की अपेक्षा आंवला सूक्ष्म है।

स्थूल भी दो प्रकार के हैं. (१) अन्त्यम (२) आपेक्षिक अचित्य महास्कन्ध जो सर्व लोक व्यापी होता है. वह अन्त्यम स्थूल है और आपेक्षिक जैसे—वेर से आंवला और आंवले से आम स्थूल है इत्यादि। आपेक्षिक वचन को ही स्याद्वाद कहते हैं एक ही वस्तु में स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व दो विरोधी पर्यायों का अस्तित्व ही स्याद्वाद कहलाता है।

संस्थान (अवयव रचना विशेष) अनेक प्रकार के हैं। तथापि उनके दो भेद बताये हैं (१) इत्थंत्व (२) अनित्थंत्व। जिस आकार की किसी अन्य आकार के साथ तुलना की जाय उसे इत्थंत्व कहते हैं और जिसकी तुलना किसी के साथ नहीं हो सकती उसे अनित्थंत्व कहते हैं। जैसे—मेघादि का संस्थान याने रचना विशेष अनित्य रूप होने से. किसी एक प्रकार से निरूपण नहीं कर सकते वह अनित्थंत्व रूप है और फल, फूल, वस्त्र, पत्रादि वस्तुयें इत्थंत्व रूप हैं इनका आकार गोल, त्रि, चतुष्कोणादि तुलनात्मक अनेक प्रकार है।

भेद—एकत्वरूप स्थित पुद्गलों के विश्लेष "विभाग" को

भेद कहते हैं। वह पांच प्रकार का है (१) औत्कारिक-काष्ठादिको आरादि से चीरना (२) चार्णिक—वस्तु को चूर्ण करके महीन करना जैसे दाल, आटा आदि (३) खण्ड-टुकड़े करना (४) प्रतर जैसे-अभ्रक, भोजपत्रादि से परत निकाले जाते हैं (५) अनुतट-वलकल विशेष जैसे बासादि की छाल।

तम—अंधकार को कहते हैं जो प्रकाश का विरोधी भाव है।

छाया—(प्रकाश पर आवरण) जैसे-मेघाच्छादित सूर्य अथवा मनुष्यादि की छाया और दर्पणादि स्वच्छ पदार्थों में जो मुखादि का प्रतिबिंब पड़ता है वह प्रतिबिंब रूप छाया है।

आतप—सूर्यादि से होने वाले उष्ण प्रकाश को आतप और चन्द्रादि से होने वाले शीतल प्रकाश को उद्योत कहते हैं ये सब पौद्गल स्वभावी अथवा पुद्गल पर्याय रूप होने से पौद्गलिक हैं।

प्रश्न—जबकि सूत्र ३ और २४ वें में बताये हुए स्पर्शादि तथा शब्दादि दोनों पुद्गल ही के पर्याय हैं तो इनके लिये पृथक सूत्र करने की क्या आवश्यकता है? एक ही सूत्र से कार्य चल सकता है?

उत्तर—स्पर्श, रसादि "सूत्र २३ के" पर्याय परमाणु से यावत स्कन्ध पर्यन्त सब में पाये जाते हैं और सूत्रोक्त २४ के शब्दादि पर्याय हैं वे केवल स्कन्धों में ही पाये जाते हैं। परमाणु में रहे हुए स्पर्शादि के साथ उनका सबंध नहीं है और शब्द, बन्ध आदि पर्याय अनेक निमित्त भूत होने से स्कन्धों में ही पाये जाते हैं सूक्ष्मत्व पर्याय परमाणु तथा स्कन्ध दोनों में है तथापि इसके प्रतिपक्षी स्थूलत्व पर्याय की सहचारिता होने से स्पर्शादि

असंख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त अणु सम्मिलित होके स्कन्ध रूप में परिणत होते हैं। वह संघातजन्य स्कंध है (२) जो स्कन्ध किसी एक वस्तु के खंड रूप हों उनको भेद कहते हैं। जैसे-कोई बड़ी वस्तु टूट जाने से उसके छोटे छोटे टुकड़े हो जाते हैं वे भेद स्कन्ध कहलाते हैं (३) उपरोक्त भेद और संघात दोनों से उत्पन्न होनेवाला स्कंध है जैसे-किसी वस्तु के टूटे हुए टुकड़े के साथ अन्य द्रव्य सम्मिलित होके उसी समय नवीन स्कन्ध बनता है वह भेद संघतजन्य स्कन्ध कहलाता है उपरोक्त स्कन्ध द्विप्रदेशी से यावत् अनन्तानन्त प्रदेशी पर्यन्त होते हैं वेही (१) संघात (२) भेद और (३) संघात भेद कहलाते हैं।

परमाणु के लिये जो उपरोक्त सूत्र "भेदादणुः" कहा है वह विश कलित अवस्था अर्थात स्कन्ध के अवयव में समुदाय रूप से रहे हुए या उससे निकलकर अलग हुए परमाणु अवस्था विषयी हैं। विशकलित अवस्थास्कन्ध भेद से ही उत्पन्न होती है। इसी अभिप्राय से "भेदादणुः" यह सूत्र कहा है । परन्तु विशुद्ध परमाणु की अपेक्षा नहीं है पर्याय भेद अवस्था जन्य है। वास्तव में परमाणु अन्य किसी द्रव्य का कार्य नहीं है. और न अन्य द्रव्य के संघात का संभव है किन्तु वह स्वाभाविक स्वतंत्र अनादि नित्य द्रव्य है ॥ २७ ॥

स्कन्ध चक्षु ग्राह्याग्राह्य विषय ।

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुपाः ॥ २८ ॥

अर्थ-भेद और संघात दोनों से चाक्षुप स्कंध बनते हैं॥२८॥

विवेचन-वर्त्तमान सूत्र से यह सिद्ध करते हैं कि अचाक्षुप स्कन्ध है. वह निमित्त पाकर चाक्षु ग्राह्य बनजाते हैं।

पुद्गल विविध परिणामी है तथापि यहां मुख्यतयाद्वि दो भेद प्रतिपाद्य रूप होने से उसका प्रतिपादन करते हैं (१) आचक्षुष अर्थात् चक्षु इन्द्रिय अग्राह्य (२) चक्षु इन्द्रिय ग्राह्य प्रथमावस्था पुद्गल स्कन्ध अचक्षुष ग्राह्य है परन्तु वह निमित्त वशात् सूक्ष्मत्व परिणाम को परित्याग कर बादर (स्थूल) परिणाम विशिष्टत्व से चक्षु ग्राही बन जाता है इसके लिए भेद और संघात दो सापेक्षी हैं। जब स्कन्ध सूक्ष्मत्व परिणाम को परित्याग करके बादर परिणाम विषयी होता है उस समय कितनेक नवीन परमाणु स्कन्ध में अवश्य सम्मिलित होते हैं और पूर्ववर्ति कितने ही अणु उससे पृथक भी होते हैं सूक्ष्म परिणाम की निवृत्ति और बादर परिणाम की उत्पत्ति केवल संघात अर्थात् अणुओं के संमिलित मात्र से या भेद अर्थात् खंड मात्र से नहीं है किन्तु जब तक स्कन्ध सूक्ष्म भाववर्ति है उसमें कितने ही अधिक अणु सम्मिलित क्यों न हो वह चक्षु ग्राह्य नहीं होसकता स्कन्ध जब सूक्ष्मत्व भाव को छोड़ के बादर (स्थूल) स्वभाववाला होता है उस समय चाहे वह अधिकाधिक अणुओं से न्यून अणुवाला भी होतो चक्षुग्राह्य होता है। बादरत्व परिणाम के बिना स्कन्ध चक्षु ग्राह्य नहीं हो सकता इसलिये चाक्षुष स्कंध को नियम पूर्वक संघात और भेद की ही आवश्यक्ता रहता है।

भेद शब्द के दो अर्थ हैं (१) स्कन्ध के टुकड़े अर्थात् खंड होके अणुओं का पृथक होना (२) पूर्व परिणाम की निवृत्ति और उत्तर परिणाम की उत्पत्ति। परन्तु अचाक्षुष स्कन्ध से चाक्षुष स्कन्ध बनने के लिये उपयोग दोनों भेदों (परिणाम भेद संघात) की आवश्यक्ता रहती है।

वर्तमान सूत्र में चाक्षुष शब्द ही विधान रूप है अर्थात्

चक्षुग्राह्य स्कन्धों का ही बोधक है तथापि यहां उसको सर्वेन्द्रिय लाक्षणिक माना है और अनेन्द्रिय पुद्गल स्कन्ध परिणामों की विविध विचित्रता के कारण. भेद, संघात निमित्त पाकर इन्द्रियक बनजाते हैं तथा वेही स्थूल में सूक्ष्म और विशेष इन्द्रिय ग्राह्य से एक इन्द्रिय ग्राही बनजाते है. जैसे–नमक हींग आदि पदार्थों का स्पर्श, रस, घ्राण और नेत्र इन चारों इन्द्रियों द्वारा ज्ञान हो सकता है अर्थात् वे चतुर्केन्द्रिय ग्राही है तथापि उनको यदि पानी में घोल दी जाय तो वही वस्तु केवल घ्राण और रसेन्द्रिय ग्राही बन जायगी।

प्रश्न—चाक्षुष स्कन्ध बनने के लिये दो कारण बताये परन्तु अचाक्षुष के लिये भेद विधान क्यों नहीं ?

उत्तर—वर्त्तमान अध्याय के २६ वें सूत्र में सामान्य रूप से स्कन्ध मात्रकी उत्पत्ति के लिये तीन हेतु बताये गये हैं। यहां केवल विशेष स्कन्ध की उत्पत्ति अर्थात् अाचक्षुष स्कन्ध से चाक्षुष स्कन्ध बनने के हेतु बताये गये हैं. सामान्य विधान अर्थात् सूत्र २६ के कथनानुसार अाचक्षुष स्कंध बनने के लिये (संघात, भेद और संघात भेद) तीन कारण हैं।

प्रश्न—वर्त्तमान अध्याय के सूत्र १–२ में धर्मादि द्रव्यों का कथन है परन्तु वे किस प्रकार से जाने जाते हैं ?

उत्तर—वे सत् लक्षण से जाने जाते हैं इसलिये अब सत् लक्षण की व्याख्या करते हैं ॥ २८ ॥

सत् लक्षण ।

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ २६ ॥

अर्थ--उत्पाद (उत्पत्ति) व्यय (नाश) ध्रौव्य (स्थिरता)

युक्त अर्थात् वस्तु का तन्मात्मकत्व भाव सत् कहलाता है ॥२६॥

विवेचन—सत् स्वरूप के विषय वदान्तादि दर्शन वालों की मान्यता भिन्न २ प्रकार की है । जैसे—वेदान्त औपनिषद, शंकर मतावलम्बी सम्पूर्ण सत् पदार्थ (ब्रह्म) को ही केवल ध्रुव (नित्य) मानते हैं परन्तु एकान्त सर्वथा ध्रुव मानने से और ध्रौव्य रूप एक स्वभाव होने से आत्मा की अवस्थाओं का भेद अयुक्त होगा और जब आत्माकी सदाकाल एक ही अवस्था रही तो संसार और मोक्ष के भेद का भी अभाव होगा और जो मोक्ष के लिये यम (अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) नियम (तप, संतोष, स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधान) आदि अनेक प्रयत्न किये जाते हैं वे निष्फल हो जावेंगे यदि संसाराऽवस्था और मोक्षावस्था के भेद को केवल कल्पना मात्र मानते हो तो आत्मा का संसारी स्वभाव न होने से उस के उपलब्धी अर्थात् प्राप्ति के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा और यदि आत्माका मनुष्यत्व, देवत्वादि संसारी पर्याय मानते हैं, तो एकान्त ध्रौव्य का अभाव होगया इत्यादि । बौद्ध दर्शन वाले सत् पदार्थ को निरन्वय (विनासतति) क्षणिक मानते हैं । अर्थात् मात्र उत्पाद व्ययशील ही मानते हैं ।। सांख्य मतवाले चेतन्य तत्त्व रूप सत् को केवल ध्रुव (कूटस्थानित्य) मानते हैं। न्यैयायिक, वैशेषिक मतावलम्बी अनेक सत् पदार्थोंमें से परमाणु, काल, आत्मादि कई सत् पदार्थों को ध्रौव्य (कूटस्थनित्य) मानते हैं और घट' वस्त्रादि पदार्थों को केवल अनित्य (उत्पाद व्ययशील) ही मानते हैं परन्तु जैनदर्शन का सत् स्वरूप विषयी मन्तव्य भिन्न ही है शास्त्रकार उसीको प्रस्तुत सूत्र से व्याख्या करते हैं कि सत् वस्तु है वह केवल

निमित्त पाकर परिवर्तन रूप उत्पाद, व्यय को प्राप्त हुआ करते हैं। अतः स्वरूपानुयायी पने ध्रुव हैं और परिणामिक भाव की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय भी उसमें घटित होता है। सांख्यदर्शन को केवल प्रकृति (जड़ वस्तु) को ही परिणामीनित्य मान्य है परन्तु जैन-दर्शन का यह सिद्धान्त जड़ चैतन्य दोनों के लिये एक सा है अर्थात् जैन सिद्धांतों मे जड़ चैतन्य दोनों को परिणामी नित्य माना है।

सर्वव्यापी परिणामी नित्यत्ववाद स्वीकार करने के लिये मुख्य साधन प्रमाणानुभाव है। अति सूक्ष्मता पूर्वक प्रत्येक की ओर दृष्टिपात करने से यह अनुभव होता है कि ऐसा कोई तत्व नहीं जो एकान्त अपरिणामी (स्थिर) स्वभाव वाला ही हो या केवल परिणामी अर्थात् अस्थिर स्वभावी ही हो। यदि वस्तु को केवल क्षणिक ही मानते हैं तो प्रत्येक क्षण में वह नवीन नवीन उत्पन्न होगा और नष्ट भी होगा क्षणिक परंपरा के कारण उसका स्थायित्वाधाराभाव होगा और स्थायित्व के आधार का अभाव हो जाने से सजातीयता नष्ट हो जायगी अर्थात् वस्तु स्वजातीय धर्म से च्युत हो के विजातीय हो जायगी। यह वस्तु वही है इस प्रत्यभिज्ञान के लिये स्थिरत्व गुण की आवश्यक्ता है इसी तरह दृष्टा=आत्मा में भी स्थिरत्व गुण की आवश्यकता रहेगी यदि जड़ और चैतन्य तत्व में स्थिरत्व गुण का अभाव हो जाय तो वे विकार भाव को प्राप्त हो जावेंगे। और यदि उन (जड़ चैतन्य) को एकान्त अपरिणामी (स्थिर) वाला ही मानते हैं तो इन दोनों तत्वों के मिश्रण से प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होने वाली विविधता दिखाई देती है। उसका अभाव हो जायगा. इसलिये परिणामी-नित्यवाद मानना ही युक्ति संगत है॥

पूर्वोक्त सूत्र ३० की दूसरी व्याख्या ।

सत् अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता इसलिये वह नित्य है ॥ ३० ॥

विवेचन—उत्पाद व्यय, ध्रुवात्मक रहना यही वस्तु का स्वरूप है उसी को सत् कहते हैं। यह सत् स्वरूप नित्य अर्थात् तीनों काल में हे सदृश रूप से अवस्थित है ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें उत्पाद व्यय, ध्रुवाधार न हो। उक्त तीनों अंश वस्तु में सदा रहते हैं। अर्थात् उत्पादादि तीनों अंश से वस्तु कदापि पृथक् नहीं हो सकती यह सत् का नित्यत्व स्वरूप है ।

अपनी जाति से च्युत न होना ही वस्तु का ध्रुवत्व है और प्रत्येक समय भिन्न भिन्न परिणाम रूप से उत्पन्न होना और नष्ट होना उत्पाद, व्यय है । सब पदार्थों पर उत्पाद व्यय, ध्रुव का चक्र सदा प्रवाहित रहता है कोई भी अंश ऐसा नहीं है जो इस चक्र से मुक्त हो सके। पूर्व सूत्र २७ में सत्य के अस्तित्व का कथन है वह मात्रद्रव्य का अन्वयी=उत्पाद, व्यय क्रम और स्थायी अंश को ग्रहण करके कहा है । वर्तमान सूत्र में उस के नित्यत्व का कथन है । वह उत्पाद, व्यय, ध्रुव तीनों अंश का अविच्छिन्नत्व स्वभाव ग्रहण करके कहा है । उक्त दोनों सूत्रों में यह विशेषता है ॥ ३० ॥

अनेकान्त समर्थन ।

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३१ ॥

अर्थ—पदार्थों की सिद्धि मुख्यता और गौणता से होती है ॥ ३१ ॥

विवेचन—प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है और उसमें परस्पर विरुद्धभावी. धर्म भी रहे हुए हैं । उन विरुद्धभावी धर्मो का एक ही वस्तु में सप्रमाण समन्वय कराना और विद्यमान अनेक धर्मों में से किसी समय एक और किसी समय दूसरे का प्रतिपादन कैसे हो इसका अवबोध करना इस सूत्र का उद्देश है।

आत्मा सत् है। इस प्रतीति या कथन में जिस सत्यता (सत्) का भास होता है वह सर्व प्रकार से घटित नहीं है किन्तु वह स्वस्वरूपसे ही सत् है। यदि ऐसा नहो तो आत्मा चेतनादि स्वस्वरूप के समान घटादि पर रूप में भी सत्यता सिद्ध होनी चाहिये और घट में भी चैतन्यत्व भाव होगा । इससे विशिष्ट स्वरूप सिद्ध नहीं होता। विशिष्ट स्वरूप का मतलब यह है. कि जो स्वस्वरूप से सत् है वह पररूप में नहीं अर्थात् सत् नहीं इस तरह आत्मादि प्रत्येक वस्तु में जो विरोध भावी धर्म रहा हुआ है वह सापेक्ष अर्थात् अपेक्षा सहित है. इसी तरह वस्तु में नित्य, अनित्य धर्म भी रहा हुआ है । जो वस्तु सामान्य दृष्टि (द्रव्य) से नित्य है वही वस्तु विशेष दृष्टि (पर्याय) से अनित्य सिद्ध होती है और दूसरे एकत्व. अनेकत्वादि अनेक धर्मो का समन्वय आत्मादि सब वस्तुओं में अबाधित रूप से है। इसीलिये सब पदार्थ अनेक धर्मात्मिक माने गये हैं।

द्वितीयव्याख्या ।

प्रत्येक वस्तु का व्यवहार अनेक प्रकार से होता है और उस की सिद्धि मुख्यता. गौणता अर्थात् प्रधान अप्रधान भाव से होती है॥ ३१ ॥

विवेचन—अपेक्षा भेद से सिद्ध होने वाले अनेक धर्मों में से वस्तु का व्यवहार किसी एक धर्म द्वारा होता है वह अप्रमाणिक अथवा बाधित नहीं कहलाता क्योंकि वस्तु के विद्यमान समस्त धर्म एकसाथ विवक्षित नहीं होते अर्थात् उनका व्यवहार अथवा कथन एक साथ नहीं होता। प्रयोजन के अनुसार उसकी विवक्षा होती है। जिस धर्म की विवक्षा की जाय वह मुख्य=प्रधान रूप है और शेष धर्म गौण=अप्रधान रूप होते हैं। जैसे=आत्मा में अपेक्षा भेद से नित्य और अनित्य दोनों धर्म रहे हुए हैं। वह द्रव्य दृष्टि अपेक्षा से नित्य है। क्योंकि कर्म का कर्त्ता है वही फल का भोक्ता है। कर्म और तत् जन्य फल का समन्वय नित्यत्व धर्म से ही होता है उस समय पर्याय दृष्टि अनित्यत्व विवक्षित नहीं होने के कारण गौण रूप है। कर्तृत्व काल की अपेक्षा भोक्तृत्व काल में आत्मा की अवस्था बदल जाती है इसलिये कर्म और फल के समय का अवस्था भेद बताना हो तब पर्याय दृष्टि से अनित्यत्व प्रतिपादन करते समय पर्याय दृष्टि की मुख्यता और द्रव्य दृष्टि नित्यत्व की गौणता रहेगी इस प्रकार विवक्षा अविवक्षा के कारण किसी समय आत्मा को नित्य और किसी समय अनित्य भी कह सकते हैं और जब दोनों धर्म (नित्य, अनित्य) एक साथ कहने की इच्छा हो उस समय दोनों धर्म को युगपत् (एकसाथ) प्रतिपादन करने के लिये वाच्य शब्द न होने के कारण आत्मा को अवक्तव्य कहते हैं। उपरोक्त (नित्य, अनित्य, अवक्तव्य) तीन प्रकार की वाक्य रचनाओं के मिश्रण से अन्य चार वाक्य रचना और बनती हैं, जैसे नित्य१ अनित्य२, नित्यानित्य३, अवक्तव्य४, नित्यअवक्तव्य५, अनित्यअवक्तव्य६, और नित्यानित्य अवक्तव्य७ इसी सप्त वाक्य रचना को सप्त भंगी कहते हैं यथा (१) स्यात्नित्य

यहाँ स्यात् शब्द कहने का तात्पर्य यह है कि नित्य धर्म सापेक्ष है और उसी को सूचित करने के लिये स्यात् शब्द का प्रयोग किया गया है इससे शेष धर्मों का उच्छेद नहीं होता इसी तरह (२) स्यात् अनित्य, (३) स्यात् अवक्तव्य, (४) स्यात् नित्यानित्य, (५) स्यात् नित्य अवक्तव्य, (६) स्यात् अनित्य अवक्तव्य, (७) स्यात् नित्यानित्य अवक्तव्य. इन में प्रथम के तीन सकला देशी कहलाते हैं। उस में भी आदि के दो वाक्य मुख्य हैं। उन्हीं (नित्य, अनित्य) दो धर्मों को ग्रहण करके भिन्न दृष्टि से शेष विकल्प उठाये गये हैं उन्हें विकला देशी कहते हैं। इसी तरह अस्ति नास्ति, एकत्व अनेकत्व, भेद अभेद, इत्यादि युगपत् धर्मों से प्रत्येक वस्तु में सप्त भंगी घटाई जा सकती है। प्रत्येक वस्तुमें सामान्य विशेष धर्म स्वीकार करना ही स्याद्वाद दर्शन है। इसी को अनेकान्तवाद भी कहते हैं। इसी से एक वस्तु अनेक धर्मात्मक और अनेक व्यवहार विषयी मानी जाती है ॥ ३१ ॥

पौद्गलिक बन्ध हेतु ।

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३२ ॥

अर्थ—स्निग्ध और रूक्ष हेतु से बन्ध होता है ॥३२॥

विवेचन-पुद्गलस्कंध की उत्पत्ति के लिये इसी अध्याय के छवीसवे (२६) सूत्र में 'संघात भेदेभ्य उत्पद्यन्ते' कह आये हैं। पुनः उसी का स्पष्टिकरण करते हैं कि वह केवल अवयवभूत परमाणु आदि के पारस्परिक संयोगमात्र से उत्पन्न नहीं होता किन्तु अन्य गुण की भी आवश्यकता रहती है। प्रस्तुत सूत्र का उद्देश यह है कि अवयव के पारस्परिक संयोग के सिवाय स्निग्धत्व, रूक्षत्व गुण के विना बन्ध नहीं हो सकता, पुद्गल का एकत्व

परिणाम जो न ध है वह उपरोक्त गुण से होता है अर्थात् द्वयणु कादि स्कन्धों का एक न परिणाम रूप बन्ध स्निग्ध, रूक्षत्व गुण से ही होता है।

स्निग्ध, रूक्ष अवयवों का श्लेष दो प्रकार से होता है। एक सजातीय के सा थ अर्थात् स्निग्धका स्निग्ध के साथ या रूक्ष का रूक्ष के साथ और दूसरा विजातीय के साथ अर्थात् स्निग्ध का रूक्ष के साथ और रूक्ष का स्निग्ध के साथ। श्लेष का अर्थ है सधी, सयोग या मेल। उनका बन्ध कैसे गुण वाले अवयवों से होता है और किस से नहीं होता है इसका विविधान आगे के सूत्र से करते हैं ॥ ३२ ॥

नजघन्यगुणानाम् ॥ ३३ ॥
गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३४ ॥
द्व्यधिकादिगुणानातु ॥ ३५ ॥

अर्थ—जघन्य गुण वाल स्निग्ध और रूक्ष अवयवों का परस्पर बन्ध नहीं होता ॥ ३३ ॥

गुण की सामान्यता होने पर सदृश पुद्गलों के अवयवों का अर्थात् रूक्षका-रूक्षके साथ और स्निग्ध का स्निग्धके साथ बन्ध नहीं होता ॥ ३४ ॥

दो आदि से अधिक गुण वाले अवयवों का सजातीय तथा विजातीय से बन्ध होता है ॥ ३५ ॥

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में प्रथम सूत्र ३३ व उनिषेध है तदनुसार यदि परमाणुओं में स्निग्धत्व, रूक्षत्व अंश जघन्य हो ऐसी अवस्था में उनका परस्पर बन्ध नहीं होता। इस निषे

धार्थक सूत्र से यह फलित होता है कि जिन परमाणुओं का स्निग्ध और रूक्षत्व अंश मध्यम और उत्कृष्ट संख्या वाला हो उन का परस्पर बंध होता है। परन्तु आगे सूत्र वे ३४ वे में इसका भी अपवाद है. कि समान अंश वाले अर्थात् जिन सदृश अवयवों का स्निग्धत्व, रूक्षत्व गुण सामान हो उनका भी परस्पर बंध नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि असमान गुण वाले सदृश अवयवों का बंध होता है। परन्तु इस फलितार्थ में भी मर्यादा रही हुई है जिसको सूत्र में (३५) से प्रगट करते हैं. कि यदि असमान अंशवाले सदृश अवयवों में भी जिन अवयवो का स्निग्धत्व. रूक्षत्व गुणांश, दो अंश, तीन अंश, चार अंशादि अधिक हो तो उनका परस्पर बंध हो सकता है। अन्यथा दूसरे की अपेक्षा जिसका गुण एक ही अंश अधिक है उनका परस्पर बंध नहीं होता।

प्रस्तुत तीनों सूत्रों में श्वेताम्बरीय, दिगाम्बरीय परम्परा के अनुसार पाठ भेद तो नहीं है परन्तु अर्थ भेद होता है। उनमें मुख्य तीन बातें ध्यान में रखने योग्य हैं। (१) जघन्य गुण परमाणु एक संख्या वाला हो उसका बंध हो सकता है या नहीं ? (२) पैंतीसवें सूत्र के आदि शब्द से तीन आदि की संख्या लेनी या नहीं ? (३) पैंतीसवें सूत्र से बंध विधान केवल सदृश सदृश अवयवों का मानना या नहीं ?

(१) भाष्यवृत्त्यानुसार जघन्य गुण वाले परमाणुओं का बंध निषेध है और एक परमाणु जघन्य गुण वाला हो और दूसरा जघन्य गुणवाला नहीं तो भाष्यवृत्ति के अनुसार बंध हो सकता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि आदि दिगाम्बरी व्याख्या के अनुसार जघन्य गुण युक्त दो परमाणुओं का पारस्परिक बंध के

समान एक जघन्य गुण परमाणु का दूसरा अजघन्य गुण परमाणु के साथ बंध नहीं होता।

(२) भाष्यवृत्ति के अनुसार पैंतीसवें सूत्र के आदिपद से एक अवयव से दूसरे अवयव का स्निग्ध, रूक्षत्व अंश तीन, चार यावत् संख्याता असंख्याता, अनंता भी अधिक होतो बंध हो सकता है। मात्र एक ही अंश अधिक होने से बंध निषेध है। परन्तु दिगम्बरीय आम्नाय की सब व्याख्याओं में मात्र दो अंश अधिक हो उसीका परस्पर बंध माना है। एक अंश के समान तीन, चार से यावत् संख्याता, असंख्याता, अनंता अंश अधिक वाले अवयवों का भी बंध निषेध माना है।

(३) पैंतीसवें सूत्र की भाष्यवृत्ति से दो, तीन आदि अंश अधिक होने पर जो बंध विधान बताया है। वह सदृश अवयवों के लिये है परन्तु दिगम्बरीय व्याख्याओं में वह विधान सदृश, असदृश दोनों के लिये है। इस अर्थभेद के कारण दोनों परंपराओं में बंधविषयक जो विध निषेध फलितार्थ होता है उसको कोष्ट द्वारा बताते हैं। सर्वार्थसिद्धआदिसे भाष्यवृत्तिसे

		सदृश	असदृश	सदृश	असदृश
१	जघन्य × जघन्य	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
२	,, × एकाधिक	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
३	,, × दो अधिक	नहीं	नहीं	नहीं	है
४	,, + तीन आदि अधिक	नहीं	नहीं	है	है
५	जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	नहीं	है	है
६	,, × एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं	नहीं	है
७	,, × दोअधिक जघन्येतर	है	है	है	है
८	,, × तीनआदि जघन्येतर	नहीं	नहीं	है	है

स्निग्धत्व और रूक्षत्व दोनों स्पर्श अपनी अपनी जाति की अपेक्षा एक एक रूप हैं। तथापि परिणाम की तारतम्यता के कारण वे अनेक प्रकार के हैं। जघन्य स्निग्धता और जघन्य रूक्षत्व तथा उत्कृष्ट स्निग्धत्व और उत्कृष्ट रूक्षत्व के बीच अनंत अंशों का तारतम्यत्व भाव रहा हुआ है। जैसे—गाय, बकरी, भेड़ और ऊँटनी के दूध में स्निग्धत्व का न्यूनाधिक पना रहता है। स्निग्धत्व भाव सब में है परंतु वह न्यूनाधिक रूप से है। सब से न्यून अविभाज्यरूप अंश को जघन्य कहते हैं। स्निग्धत्व और रूक्षत्व के परिणामों का आविभाज्य अंश जघन्य कहलाता है और शेष जघन्येतर कहलाते हैं इसमें मध्यम और उत्कृष्ट संख्या का समावेश है। जघन्य से एक अंश अधिक और उत्कृष्ट से एक अंश न्यून मध्यम संख्या कहलाती है। जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट अनन्त गुणाधिक है इसलिये स्निग्धत्व और रूक्षत्व परिणाम के तारतम्यत्व के अनन्त भेद होते हैं।

पूर्वोक्त परमाणु और स्कन्धों के जो स्पर्श, रसादि गुण हैं वे क्या व्यवस्थित रूप से रहते हैं. या अव्यवस्थित रूप से. ? उत्तर—वे परिणामी होने से अव्यवस्थित रहते हैं तथापि वक्ष्यमान अवस्था में किसी गुण के साथ कैसी अवस्था में परिणमन होते हैं उसको आगे के सूत्र से बताते हैं ॥ ३३-३५ ॥

परिणाम स्वरूप ।

बन्धेसमाधिकौ पारिणामिकौ ॥ ३६ ॥

अर्थ—बन्ध के समय समगुण का समगुण के साथ और हीनगुण अधिक गुण के साथ परिणमन करने वाला होता है ॥ ३६ ॥

विवेचन—द ध के विधि निषेध का स्वरूप पूर्व सूत्र में कह आये हैं। वहा सदृश और असदृश परमाणुओं का परस्पर बंध होता है। उनमें कौन से गुण के परमाणु किस गुण में परिणत होते हैं, उसका प्रस्तुत सूत्र द्वारा विवेचन करते हैं।

समांश स्थल में सदृश का बंध तो निषेध ही है अर्थात् समसंख्यावाले गुणांश के साथ सदृश परमाणु (स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ) बंध निषेध कर आये हैं और विसदृश अर्थात् रूक्ष का स्निग्ध के साथ स्निग्ध का रूक्ष के साथ बन्ध होता है। जैसे—दो अंश स्निग्ध, दो अंश रूक्ष अथवा तीन अंश स्निग्ध, तीन अंश रूक्ष। किसी एक समवाले को किसी भी समान गुणवाला अपने में परिणत करलेता है। अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के अनुसार किसी समय स्निग्ध रूक्षपने और रूक्ष स्निग्धपने बदल जाता है। परन्तु अधिकांश स्थल में हीनांश अधिक अंश में सम्मिलित होता है। जैसे—पचांश स्निग्धत्व तीन अंश स्निग्धत्व को अपने स्वरूप में परिणत करता है। इसी तरह पांच अंश स्निग्धत्व तीन अंश रूक्षको भी स्वरूप में बदल लेता है, अर्थात् रूक्षत्व स्निग्धत्व रूप में बदल जाता है, और जिस समय रूक्षत्व गुण की अधिकता होती है उस समय स्निग्धत्व रूक्षत्व स्वरूप बनजाता है। तात्पर्य यह है कि हीन गुण पने में परिणत होता है॥ ३६॥

पूर्व प्रकरण (अ० ५ सूत्र २ में) धर्मादि चार और जीव द्रव्य का कथन कर आये हैं उनकी सिद्धि यथा केवल उद्देशमात्र (नामसंकीर्तन) से ही है? नहीं नहीं लक्षण से भी सिद्ध है यथा—

द्रव्य का लक्षण ।

गुणपर्यायवद् द्रव्यम　　　　　　　　　　　॥ ३७ ॥

अर्थ—जिसमें गुण और पर्याय हो वह द्रव्य है ॥ ३७ ॥

विवेचन—द्रव्य का उल्लेख पूर्व कई सूत्रों से कर आये हैं। अब इस सूत्र से उसका लक्षण बतलाते हैं।

जिसमें गुण और पर्याय हो उसको द्रव्य कहते हैं प्रत्येक द्रव्य अपने अपने परिणामी स्वभाव के कारण ने निमत्त प्रकार भिन्न भिन्न रूप को प्राप्त करता है. अर्थात् विविध परिणाम प्राप्त करने की जो शक्ति है उसी को गुण कहते हैं और गुणजन्य परिणाम को पर्याय कहते हैं. गुण कारण है और पर्याय कार्य है। प्रत्येक द्रव्य में शक्ति रूप से अनन्त गुण रहे हुए हैं। गुण का स्वरूप इसी अध्याय के सूत्र ४० वे में बताया जायगा। वस्तुः वह द्रव्य के आश्रय भूत अविभाज्य रूप है। प्रत्येक गुण के भिन्न समय सम्प्राप्य त्रैकालिक पर्याय अनन्त हैं। द्रव्य और उसकी अंश रूप शक्ति उत्पन्न और नष्ट नहीं होती इसलिये नित्य अर्थात् अनादि अनन्त है। परन्तु पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न और विनिष्ट होने के कारण व्यक्तिशः अनित्य अर्थात् सादि सान्त है और प्रवाह की अपेक्षा से वह भी अनादि अनन्त (नित्य) है। किसी कारणभूत एकशक्ति द्वारा द्रव्य में होने वाले त्रैकालिक पर्यायप्रवाह सजातीय कहलाते हैं। एवं द्रव्य में अनन्त शक्ति है। तज्जन्य पर्याय भी अनन्त हैं। वे एक द्रव्य मे प्रतिसमय भिन्न भिन्न शक्ति से उत्पन्न होने वाले विजातीय पर्यायपंक्ता दृष्टि एक साथ प्रवाह रूप से अनन्त हैं। परन्तु एक समय में एक शक्तिजन्य सजातीय पर्याय एक ही होता है. अनेक नहीं हो सकते.।

आत्मा और पुद्गल ये दो द्रव्य ऐसे हैं कि वे अपनी शक्ति द्वारा अनेक रूप में परिणत हुआ करते हैं। आत्मा चेतनादि अनन्त गुण और ज्ञान दर्शनादि विविध उपयोगों वाला है। पुद्गल में रूपादि अनन्त गुण और नील पीतादि अनन्त पर्याय रहेहुए है। आत्मा चेतन्यादि शक्ति द्वारा उपयोग रूप में और पुद्गल रूप शक्ति द्वारा अनेक आकार और नीलपीतादि रूप में परिणत हुआ करता है। आत्मद्रव्य की चेतना शक्ति आत्मद्रव्य से और उसकी अन्य शक्तियों से पृथक नहीं हो सकती। इसी तरह रूपादि शक्ति पुद्गल द्रव्य से और तद गत् अन्य शक्तियों से पृथक नहीं हो सकती। ज्ञान दर्शनादि भिन्न भिन्न समयवर्त्ती विविध उपयोगों का त्रकालिक प्रवाह का कारण एक चेतना शक्ति है। इस चेतनाशक्ति के द्वारा पर्याय प्रवाह से उपयोग० कार्य होता है इसी तरह पुद्गल द्रव्य में रूपत्व शक्ति कारण भूत और नीलपीतादि विविध वर्ण पर्याय प्रवाह उस शक्ति का कार्य है। आत्म द्रव्य मे उपयोगात्मक पर्याय प्रवाह के समान सुख दुःख वेदनात्मक पयाय प्रवाह, प्रत्यात्मक पर्याय प्रवाह आदि अनंत पर्याय प्रवाह एक साथ प्रवाहित हुआ करते हैं। उस कार्य भूत पर्याय प्रवाहों की कारणभूत शक्ति पृथक पृथक मानने से अनन्त शक्ति सिद्ध होती है। इसी तरह पुद्गल द्रव्य में भी रूपी पर्याय प्रवाह के समान गंध, रस स्पर्शादि अनन्त पर्याय प्रवाह सदा प्रवाहित रहती है। इन प्रत्येक प्रवाहों की कारण भूत शक्ति पृथक २ मानने से पुद्गल में भी रूप शक्ति के समान गंध रस स्पर्शादि अनन्त शक्तियां सिद्ध होती है। आत्मा म चेतना, आनन्द वीर्यादि शक्तियां स्वरूप की भिन्न विविध (अनेक) पर्यायें प्रति समय प्रवाहित रहती है, परन्तु एक चेतना शक्ति या एक आनन्द शक्ति

की उपयोग अथवा वेदना पर्याय एक समय अनेक प्रवाहित नहीं रहती। क्योंकि एक समय में प्रत्येक शक्ति की एकही पर्याय व्यक्त (प्रगट) हुआ करती है । इसी तरह पुद्गल में भी नील, पीतादि अनेक पर्यायों में एकैक शक्ति की एकैक पर्याय एक समय रहा करती है। जिस तरह आत्मा और पुद्गल नित्य हैं उसी तरह चेतना और रूपादि शक्तियां भी नित्य हैं परन्तु चेतनाजन्य उपयोग पर्याय और रूप शक्ति जन्य नील पीतादि पर्याय नित्य नहीं हैं किन्तु उत्पाद, व्ययशील होने से व्यक्तिशः अनित्य है तथापि प्रवाह की अपेक्षा से वह नित्य है।

आत्मा अनन्त गुणों के समुदाय का एक अखंड द्रव्य है। परन्तु छद्मस्त (साधारण बुद्धि वाले) की कल्पना में इसके चेतन, आनन्द, चारित्र, वीर्यादि परिमित गुण ही आते हैं। समस्त गुणों का अवबोध छद्मस्त को नहीं होता। इसी तरह पुद्गल के भी रूप, रस, गंध, स्पर्शादि परिमित गुण ही अवबोधित होते हैं। आत्मा तथा पुद्गल के समस्त पर्यायों का प्रवाह विशिष्ट ज्ञान (केवल ज्ञान) के सिवाय नहीं जाना जासकता । जिन २ पर्याय प्रवाहों को साधारण बुद्धि वाले जान सकते हैं उनके कारण भूत गुणों का व्यवहार होता है। जैसेः—चैतन्य, आनन्द, चारित्र और वीर्यादि आत्मा के गुण कल्पना, विचार और वचन द्वारा प्रगट किये जा सकते हैं। इसी तरह पुद्गल द्रव्य के भी रूप आदि गुण प्रगटरूप हैं शेष अकल्पनीय गुण हैं वे केवली गम्य हैं।

अनन्त गुण, अनन्त पर्याय के समुदाय को द्रव्य माना है। यह कथन भेद सापेक्ष है । अभेद दृष्टि से पर्याय है वह गुण स्वरूप है। गुण द्रव्य स्वरूप है अर्थात् गुण पर्यायात्मक ही द्रव्य है। द्रव्य में गुण दो प्रकार के होते हैं एक साधारण (सामान्य)

दूसरा असाधारण (विशेष)। साधारण जो गुण है वह सब द्रव्यों में सामान्य रूप होता है। जैसे—अस्तित्व, द्रव्यत्व, अगरु लघुत्वादि और जो विशेष गुण हैं वे किसी द्रव्य में होते हैं और किसी में नहीं भी होते। जैसे—चैतन्यत्व, रूपत्वादि-असाधारण गुण और तज्जन्य पर्याय के कारण ही प्रत्येक द्रव्य की पृथक्ता है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय द्रव्य के भी गुण, पर्याय की व्याख्या पूर्ववत् जीव, पुद्गल के समान करलेनी। विशेषता यही है कि पुद्गल द्रव्य रूपी है और शेष अरूपी है और पुद्गल द्रव्य गुरु लघुगुण वाला है और शेष द्रव्यों का अगरुलघु गुण है ॥ ३७ ॥

काल का स्वरूप।

कालश्चेत्येके ॥ ३८ ॥ सोऽनन्तसमयः ॥ ३९ ॥

अर्थ—कोई आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं ॥३८॥

और वह अनन्त समय वाला है ॥ ३९ ॥

विवेचन—पहले इसी अध्याय सूत्र २२ में काल के वर्तनादि पर्यायों का वर्णन कर आये हैं परन्तु वहां द्रव्यत्व विधान नहीं है। द्रव्यत्व विधान विषयी उपरोक्त सूत्र है और उसके विवेचन में (धर्माधर्माकाशजीव पुद्गल) पांच पदार्थों के द्रव्यत्व विषय सब की एक मान्यता होने से एक ही सूत्र में उनकी व्याख्या की गई है। और काल के द्रव्यत्व विषय मत भेद होने से सूत्रकार यथा अनुक्रम पृथक सूत्र से उसकी व्याख्या करते हैं।

सूत्रकार का कथन है कि कई आचार्य काल को द्रव्यत्व रूप मानते इसका तात्पर्य यह होता है कि वस्तुतः अर्थात् वास्तविक रूप से केवल स्वतंत्र द्रव्य रूप सर्व सम्मत नहीं है।

सूत्रकार ने काल को पृथक् द्रव्य मानने वाले आचार्यों के मत का निराकरण नहीं किया किन्तु वर्णन रूप से कथन करने

हुए आगे सूत्र से कहते हैं कि वह अनन्त पर्याय वाला है। वर्तनादि पर्यायों का स्वरूप हम पहले समझा आये हैं। (अ० ५ सूत्र २२) वर्तना काल का समय रूप पर्याय तो एक ही है । तथापि अतीत, अनागत समय पर्याय अनन्त है । इसी लिये काल को अनन्त पर्याय वाला कहा है ॥ ३८-३९ ॥

गुण स्वरूप ।

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः　　　　　　　॥ ४० ॥

अर्थ—जो द्रव्य के आश्रय में रहे और स्वयम् निर्गुण हों वे गुण हैं ॥ ४० ॥

विवेचन—द्रव्य के लक्षण गुण का कथन (अ० ५ सू० ३७) है इसलिये अब गुण का स्वरूप बताते हैं।

यद्यपि पर्याय भी द्रव्य के आश्रित ही हैं और निर्गुणभी हैं तथापि वह उत्पाद विनाशशील होने से सदा अवस्थित रूप नहीं है. और गुण सदा अवस्थ रूप से रहता है। यही गुण और पर्याय में अन्तर भेद है।

द्रव्य की सदा वर्तमान शक्ति जो पर्याय की उत्पादक रूप है। उसी को गुण कहते हैं । गुण से अन्य गुण मानने पर अनावस्था दोष उपस्थित होता है। इसलिये द्रव्यनिष्ठ अर्थात् द्रव्य में रही हुई शक्ति रूप गुण को निर्गुण माना है। आत्मा के चैतन्य, सम्यक्त्व. चारित्र. आनन्द, वीर्यादि और पुद्गल के रूप, रस, गंध, स्पर्शादि अन्त गुण हैं ॥ ४० ॥

परिणाम का स्वरूप ।

तद्भावः परिणामः　　　　　　　　॥ ४१ ॥

अर्थ—उत्पाद व्यय सहित स्वस्वरूप में स्थित रहना परिणाम है ॥ ४१ ॥

विवेचन—वर्त्तमान अध्याय के सूत्र २२-२६ आदि से परिणाम शब्द कह आये हैं उसका वास्तविक क्या अर्थ है उसको शास्त्रकार समझाते हैं।

बौद्ध दर्शन वाले वस्तु मात्र को क्षण स्थायी (निरन्वय विनाशी) मानते हैं । इनके मतव्यानुसार परिणाम का अर्थ उत्पन्न होके सर्वथा नष्ट होना है । नाश के पश्चात् उस वस्तु का कोइ भी तत्व अवस्थित रूप नहीं रहता ।

नयायिकादि दर्शनवाले गुण और द्रव्य को एकान्त भेद रूप से मानते हैं । इनके मतानुसार परिणाम का फलितार्थ सर्वथा अविकृत (विकार भाव को नहीं होने वाले) द्रव्य में गुण का उत्पाद, व्यय होना है । उक्त दोनों पक्ष और जैन मन्तव्यानुसार परिणाम स्वरूप के सम्बन्ध में क्या विशेषता है उसको प्रस्तुत सूत्र द्वारा बताते हैं ।

कोइ भी द्रव्य या गुण ऐसा नहीं है जो सर्वथा अविकृत रह सके । विकृत अर्थात् अन्य अवस्था को प्राप्त करता हुआ कोई भी द्रव्य या गुण अपनी मूल जाति (स्वभाव) का परित्याग नहीं करता । निमित्त पाकर भिन्न अवस्था को प्राप्त हो यही द्रव्य और गुण का परिणाम है ।

आत्मा मनुष्यत्व या पशु, पक्षी आदि किसी भी अवस्था में हो परन्तु वह अपने आत्मत्व (चेतन्यत्व) का परित्याग नहीं करता । इसी तरह उसके गुण, पर्याय में भी चेतनत्व भाव रहता है । ज्ञानरूप साकार उपयोग हो अथवा दर्शन रूप निराकार उपयोग हो । घट विषयक ज्ञान हो या पटविषयक ज्ञान हो परन्तु इन सब उपयोग पर्यायों में चेतनत्व कायम रहता है । उसका परिवर्तन कदापि नहीं होता । वह अपरिवर्तनशील है । एव पुद्गल द्रव्य भी द्वयणुक, त्र्यणुक आदि किसी भी अवस्था में हो और भिन्नअवस्था में वर्ण, गन्ध, रसादि पर्याय भी परिवर्तन हुआ करते हैं परन्तु वह अपने जडत्व मूर्तित्व स्वभाव का परित्याग नहीं करता । इसी तरह प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्यत्व गुणत्व से च्युत नहीं होते हुए पर्याय परिवर्तनशील अवस्था को परिणाम कहते हैं ॥ ४१ ॥

परिणाम के भेद ।

अनादिरादि मॉंश्च ॥ ४२ ॥ रूपीष्वादिमान ॥ ४३ ॥
योगोपयोगौ जीवेषु ॥ ४४ ॥

अर्थ—परिणाम के दो भेद हैं । अनादि, और आदिमान ॥ ४२ ॥

रूपी द्रव्य आदिमान परिणाम वाले होते हैं ॥ ४३ ॥

जीवों में योग और उपयोग आदिमान हैं ॥ ४४ ॥

विवेचन—जिस काल की पूर्वकोटी न जानी जाय उसको अनादि, और जिसकी पूर्वकोटी जानी जाय उस को आदिमान काल कहते हैं । परिणामी स्वभाव के दो भेद हैं । एक अनादि परिणामी स्वभाव, दूसरा आदिमान परिणामी स्वभाव । जिसमें अरूपी द्रव्य (धर्माधर्माकाश जीव) अनादि परिणाम वाले होते हैं. परन्तु जीवों में उक्त दोनों भेद पाये जाते हैं ।

रूपी पुद्गल द्रव्य आदिमान (सादि) परिणामवाले होते हैं उनके अनेक भेद हैं. जैसे—स्पर्श परिणाम, रस परिणाम, गन्ध परिणाम इत्यादि ॥ ४३ ॥

प्रस्तुत सूत्र ४३ से यह सूचित होताहै कि रूपी द्रव्य के सिवाय जो अरूपी द्रव्य हैं उन सबमें अनादि परिणाम होते हैं । परन्तु आगे सूत्र ४४ में उसका निराकरण करते हैं कि जीव यद्यपि अरूपी है तथापि उसके योग, उपयोग हैं. वे आदिमान (सादि) परिणाम वाले हैं और शेष स्वभाव अनादि परिणाम हैं जिसमें उपयोग का स्वरूप प्रथम (अ०२ सूत्र १७ में कह चुके हैं. योग का स्वरूप अगले अध्याय ६ सूत्र १ से कहेंगे ॥ ४४ ॥

———o:———

इति तत्त्वार्थ सूत्र के पांचवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त.

अध्याय छट्ठा

जीव, अजीवका निरुपण कर चुके। अब क्रमश आश्रव द्वार का निरुपण करते हुए सूत्रारम्भ करते हैं।

कायवाङ्मन' कर्मयोग स आस्रव' ॥ १ ॥ २ ॥

अर्थ– काय वचन और मनकी क्रियाको योग कहते हैं और कर्म बन्ध के कारण से वे (योग) आश्रव संज्ञक हैं ॥ १-२ ॥

विवेचन—वीयान्तरायके क्षयोपशम या क्षयसे अथवा पुद्गलोंके आलम्बन से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द अर्थात् स्वनाविशेष योग कहलाता है। आलम्बन भेदसे उसके मुख्य तीन भेदहैं। (१) काययोग (२) वचन योग (३) मनयोग । औदारिकादि वर्गणा योग्य पुद्गलोंके आलम्बनसे प्रवर्तमान होनेवाले योगोंको काययोग कहतेहैं, मतिज्ञानावण, अक्षरश्रुतावर्णादि कर्मोंके क्षयोपशमसे आन्तरिक (भाव) वागलब्ध उत्पन्नहोतेही वचनवर्गणाके आलम्बनसे भाषा परिणामकी ओर अभिमुख आत्मके प्रदेशोंका परिस्पन्द=प्रकम्प होता है उसे वचनयोग कहते हैं, नाइन्द्रिय जन्य मतिज्ञानावर्णी के क्षयोपशम रूप आन्तरिक लब्धि प्राप्तहोतेही मनवर्गणा के आलम्बनसे मनपरिणामकी ओर आत्माका जो प्रदेश प्रकम्पहोता है उसे मनयोग कहते हैं।

उक्त तीनों योग आश्रव कहलाते हैं । योगोंको आश्रव कहनेका कारण यह है कि इनके द्वारा कर्मबन्ध होता है। जैसे—

जलाशयमें पानीका आगमन नाली वा किसी श्रोत द्वारा होताहै इसी तरह कर्मोंका आगमन योग नैमेत्तिक होने से इनको आश्रव कहते हैं ॥ १-२ ॥

योगों के भेद और कार्य ।

शुभः पुण्यस्य ॥ ३ ॥ अशुभः पापस्य ॥ ४ ॥

अर्थ—शुभ योग पुण्य बन्धक हेतु है ॥३॥ अशुभ योग पाप बन्धक हेतु है ॥ ४ ॥

विवेचन—उक्त (काय, वचन, मन) तीनों योग शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके होते हैं । योगोंके शुभत्व, और अशुभत्वका आधार भावनाकी शुभाशुभता पर निर्भर है । अर्थात् शुभोद्देशकी प्रवृत्ति शुभयोग और अशुभोद्देश की प्रवृत्ति अशुभयोगहै किन्तु कर्मबन्धकी शुभाशुभता पर योगकी शुभाशुभतावलम्बित नहीं है क्योंकि आठवें आदि गुणस्थानोंमें है शुभयोग प्रवृतमान होते हुए भी अशुभज्ञानावरणीयादि कर्मबन्ध होताहै । इसके लिये दूसरे और चौथे हिन्दी कर्मग्रन्थमें गुणस्थानकपर बन्ध विचारणीय है ।

हिंसा, चोरी, अब्रह्मादि कायिकव्यापार अशुभकाययोगहैं, और दया, दान, ब्रह्मचर्यादि शुभकाययोग हैं । सत्य किन्तु सावद्यभाषण, मिथ्याभाषण, कठोरभाषणादि अशुभवचनयोग हैं, सत्य निर्वद्यभाषण, मृदु तथा सभ्यादिभाषण शुभवचनयोगहैं । दूसरा के अहित तथा बन्धका चिन्तवनादि कर्म अशुभमनयोगहै. हित तथा उन्नतिके विचारों को शुभमनयोग कहते हैं ।

शुभयोगका कार्य, पुण्यप्रकृत्तिका बन्ध और अशुभयोगकार्य पापप्रकृत्तिकाबन्ध, जो अनुक्रम से ४२ और ८२ प्रकारका

है जिसका सविस्तार वर्णन चौथे कर्म ग्रंथमें है तथा आगे अध्याय ८ सूत्र २६ में कहेंगे।

प्रस्तुत सूत्रका विधान सापेक्ष समझना चाहिये कारण सक्लेस (कषाय) की मंदताके समय योग शुभ है और उसकी तीव्रतामें योगअशुभ कहलाते हैं। जैसे —अशुभयोगके समय भी प्रथमादि गुणस्थानों में ज्ञानावरणयादि पाप तथा पुण्य प्रकृतियों का यथा सम्भव बन्ध होता है। उसी तरह छठे आदि गुणस्थानों में शुभयोगके समय भी पुण्य, पाप दोनों प्रकृतियोंका यथा सम्भव बन्ध है।

प्रश्न—तबतो पुण्य बंधका शुभयोग और पापबंधका अशुभ योग जो कारण बताया है वह असंगत है?

उत्तर-प्रस्तुत विधानमें मुख्यता अनुभाग (रस) बंधकी अपेक्षा समझनी चाहिये। शुभयोगकी तीव्रताके समय पुण्यप्रकृतिके अनुभागकी मात्रा अधिक होती है और पापके रसकी मात्रा न्यून होती है। इसी तरह अशुभयोगकी तीव्रताके समय पाप प्रकृतिके रसकी मात्रा अधिक और पुण्यप्रकृतिके रसकी मात्रा न्यून होती है परन्तु दोनों प्रकृतियों का बंध प्रतिसमय हुआही करता है। सूत्रकारने अधिकांश ग्रहण करके सूत्र विधान किया है। हीन मात्राकी विवक्षा नहीं की। न्याय शास्त्रमें भी कहा है-" प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" और लौकिकमें भी प्राधान्यताके व्यवहारका नियम प्रसिद्ध ही है ॥ ३-४ ॥

स्वामी तथा फल भेद ।

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ५ ॥

अर्थ—कषायसहित और कषाय रहित आत्माका योग

यथाक्रम संपरायिक और ईर्यापथकी क्रियाहेतुसे, कर्मबंध (आश्रव) होता है ॥ ५ ॥

विवेचन—जिन में क्रोध, लोभादि कषायोंका उदयहो वह सकषाय और जिसमें उक्त क्रोधादि न हो उसको कषायरहित कहते हैं। प्रथम गुणस्थानक से यावत् दशवें गुणस्थानक पर्यन्त जीव न्यूनाधिक प्रमाणोंसे सकषायी होते हैं और शेष ग्यारहवें गुणस्थानकसे चौदहवें गुणस्थानक पर्यन्त अकषायी होते हैं ।

आत्माको पराभवकरनेवाले कर्म सम्परायिककर्म कहलाते हैं। जैसेः—चिकासके कारण शरीर या घड़ेपर रज चिपक जाती है, उसी तरह योगद्वारा आकृष्टकर्म, कषायोदयके कारण आत्माके साथ सम्बन्धितहोके स्थितहोते हैं. उसीको सम्परायिककर्म कहते हैं, और बिना चिकनासवाले घड़ेपर रहीहुई रज हिलाने से तुरंत गिरजातीहै। इसी तरह कपायके अभावसे केवल योगाकृष्टकर्म आत्मासे तुरत अलगहोजाते हैं । उसको ईर्यापथकर्म कहतेहैं। इसकी स्थिति केवल दो समयकी मानीगईहै।

सकषायीआत्मा कायिकादि तीनप्रकारके योगोंसे शुभाशुभकर्म बान्धते हैं. उसकी न्यूनाधिक स्थितिका आधार कषायकी तीव्रता, मन्दता पर निर्भर है और यथा संभव शुभाशुभ विपाकका कारणभी होताहै. जो कषायमुक्तात्मा तीनोंप्रकारके योगोंसे कर्मबांधतेहैं, वे कषाय अभाव के कारण विपाक जन्य नहींहोते और उसका बंध काल दो समयसे अधिक नहीं होता । इसको ईर्यापथिक कहनेका कारण यहहै कि केवल ईर्या=गमनादि योगप्रवृत्तिद्वारा ही कर्मबन्धहोताहै। यद्यपि सवजगह तीनोंप्रकारके योगोंकी सामान्यताहै. तथापि कषायजन्य न होने से उपार्जित कर्मों का स्थिति वंध नहीं होता. अर्थात् गमनागमन योगप्रवृत्ति

कर्म को ईर्यापथिककर्म कहतेहैं स्थिति और रस बंधका कारण कषाय है और यही संसार की जड़ है ॥ ५ ॥

सांपरायिक आश्रव के भेद ।

अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्च-
विंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रथम (सांपरायिक) आश्रवके चार भेद हैं अव्रत, कषाय, इन्द्रिय और क्रिया इनके उत्तर भेदोंकी संख्या अनुक्रमसे पांच, चार, पांच, पच्चीस है ॥ ६ ॥

विवेचन—पांचवें सूत्र पाठके अनुक्रमसे प्रथम सम्परायिक आश्रवके भेद प्रभेदोंका वर्तमान सूत्रसे वर्णन करते हैं । उस सम्परायिक कर्म आश्रव के मुख्य चार भेद और उत्तर उनचालीस (३९) भेद हैं और तीन योगों को पूर्व सूत्र १ में कह आये हैं एवं ४२ भेद आश्रवके हैं यथा—

(१) हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह ये पांच अव्रत हैं इनका वर्णन अध्याय ७ सूत्र ८ से १२ पर्यन्त है ।

(२) क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायहैं इन का विशेष स्वरूप अ० ८ सूत्र १० मे लिखा है ।

(३) स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र पांच इन्द्रियोंका अधिकार अध्याय २ सूत्र २० में कहआये हैं । वर्तमान सूत्र में इन्द्रियोंका अर्थ राग द्वेष युक्त प्रवृत्तिहै क्योंकि विना राग द्वेष के आकार मात्रसे ही कर्मबंधनहींहोता । अस्तु राग, द्वेषकी प्रवृत्ति ही कर्मबंधका कारण है ।

(४) पच्चीस क्रियाओं के नाम और लक्षण ।

(१) सम्यक्त्वक्रिया—देव गुरु धर्मकी श्रद्धा पूर्वक पूजा,

भक्ति आदिकरके सम्यक्त्व पोषण. (२) मिथ्यात्व क्रिया=मिथ्यात्वमोहनी प्रवर्द्धक सरागना (३) प्रयोग क्रियाः-शरीरादि द्वारा उत्थानादि सकषाय प्रवृत्ति, (४) समादानक्रियाः—त्यागी होके भववृत्तिकी ओर प्रवर्तमान होना. (५) इर्यापथिक क्रियाः जिस क्रियासे दो ही समयकी स्थितिका कर्मबन्धहोना है. (६) कायकी क्रिया-दुष्टभावसहित. प्रयत्नशीलहोना. (७) अधिकरण क्रियाः-हिंसाकारीसाधनोंको ग्रहणकरना, (८) प्रदोषक्रियाः-क्रोधके आवेशसे होनेवाली क्रिया (६) परितापनक्रियाः-प्राणियोंको संताप देना, (१०) प्राणातीपातक्रिया -प्राणियोंके प्राणों (पांच इन्द्रियः मन, वचन, कायवल. श्वासोश्वास, आयुष ये दशप्राण हैं) को हनन करना, (११) दर्शनक्रियाः-रागवश होके रूपादि देखने की प्रवृत्ति. (१२) स्पर्शनक्रियाः-प्रमादवश होके स्पर्शनकरनेयोग्य वस्तुके स्पर्शनका अनुभवकरना, (१३) प्रत्ययक्रिया —नवीन शस्त्रादि बनाना, (१४) समन्तानुपातन क्रिया पुरुष, स्त्री, पशु आदिके आवागमनादि स्थान पर मलमूत्रादि परित्याग करना, (१५) अनाभोग क्रियाः-विना देखे प्रमार्जन किये स्थान पर शरीर वा किसी वस्तुको स्थापित करना। (१६) स्वहस्तक्रियाः-दूसरे के करने योग्य क्रियाको स्वयम् करना, (१७) निसर्गक्रियाः-पापप्रवृत्तिके लिये अनुमति देना. (१८) विदारणक्रियाः-दूसरेकेकियेहुए पाप को प्रकाशित करना, (१९) आनयन अथवा आज्ञाव्यापाद क्रिया=स्वयम् पालनकरनेकी शक्ति न होनेसे शास्त्रोक्त आज्ञा के विपरीत प्ररूपन करना, (२०) अनवकाङ्क्षाक्रिया-धूर्तता वा आलस्यसे शास्त्रोक्त विधिका अनादर करना। (२१) आरंभक्रिया-आरंभ समारंभ में रत होना (२२) परिग्रहक्रिया-जो परिग्रहकी वृद्धिके हेतुकीजाय (२३) मायाक्रिया-ठगी करना, (२४) मिथ्या-

दर्शनक्रिया-मिथ्यात्व परिसेवन, (२५) अप्रत्याख्यानक्रिया-पापव्यापारसे अनिवृत्त होना।

उपरोक्त पच्चीस क्रियाओंमें ईर्यापथकी क्रिया है वह साम्परायक आश्रवनहींहै। यहा सब क्रियायें कषाय प्रेरित होनेके कारण सम्पराियकाश्रव कही। वास्तवमें ईर्यापथकी क्रिया कषाय प्रेरित नहींहै क्योंकि वह अकषायी अवस्थाहै परन्तु यहा कषाय प्रेरित कहा वह ग्यारहवें गुणस्थानकसे पतितहोनेके अन्तसमयकी अपेक्षा है वस्तुत सब क्रियायें मात्रकमग्रहण सापेक्ष समझनीचाहिये उक्त सम्परायिक क्रियाओंके बन्धका कारण मुख्यतासे रागद्वेष (कषाय) ही है तथापि कषायसे पृथक् अव्रतादि बन्ध कारणरूपसूत्रमें बतायेहैं, उनमें कतिपय प्रवृत्तियाँ मुख्यतापने व्यवहारमें दिखाईदेती हैं उन प्रवृत्तियों को सम्वराभिलाषी यथाशक्ति समझकर रोकनेकी चेष्टा करे इसीहेतुसे उपरोक्त (३६) भेद किये गयेहैं ॥ ६ ॥

बन्ध-कारण समान होते हुवे भी कर्म बन्ध में विशेषता-

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभाव वीर्याधिकरण विशेष भ्यस्तद्विशेषः ॥७॥

अर्थ—तीव्रभाव, मदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य और अधिकरणभेद विशेषसे "तत्" उपरोक्त उन्नचालीसभेद सहित सम्परायिकाश्रव के कर्म बधमें विशेषता होतीहै ॥ ७ ॥

विवेचन—प्राणातिपात, इन्द्रियव्यापार, और सम्यक्त्व क्रियादि उपरोक्त सूत्र ६ बधकारण समान होते हुए भी तज्जन्य कर्मबधमें किन किन कारणों से विशेषता होतीहै उसीको वर्तमान सूत्र द्वारा बतलाते हैं।

बाह्यबन्धकारण समान होते हुए भी परिणामोंकी तीव्रता, मन्दताके कारण कर्मबधमें भिन्नताहोतीहै जैसे—किसी एक वस्तु

को तीव्रतथा मन्दाशक्ति पूर्वक देखनेवालेका विषय तीव्र और मन्द होताहै वैसे ही परिणामोंकी तीव्रतासे तीव्र, और मन्दतासे मन्द बन्ध होताहै। पुनः रागादिपूर्वक जो क्रिया की जाय उसको ज्ञात भाव कहतेहैं । कोई भी क्रिया चाहे ज्ञात भावसे हो या अज्ञात भावसे हो कर्मबन्ध अवश्य होताहै और उसमें बाह्यव्यापार हिंसादि प्रवृत्ति समान रूप होतेहुए भी तज्जन्य कर्मबन्धमें न्यूनाधिक्ता होतीहै अर्थात् अज्ञात भावसे ज्ञानभाववालेका कर्म बंध उत्कृष्ट होता है. जैसेः—कोई व्यक्ति हरिनको हरिनसमझकर बाणसे मारताहै और दूसरा निर्जीव पदार्थपर निशाना मारते हुए भूलसे हरिनको लग जाय, इन दोनोंमें भूलसे मारनेवालेके कर्मबंध से जान बूझकर मारने वालेका कर्मबंध उत्कृष्ट होता है ।

वीर्यशक्ति विशेष भी कर्मबंधकी विचित्रताका कारणहै, बलवानकी अपेक्षा निर्बलका शुभाशुभ कर्मबंध सदैव मन्दहोताहै। जैसे—दान, सेवादि शुभकार्य अथवा हिंसाचोरी आदि अशुभकाम बलवान पुरुष जिस उत्साह के साथकरडालताहै उतना ही काम निर्बलपुरुष बड़ी कठिनाई से क्षीणमन होके करताहै. इसलिये बलवानकी अपेक्षा निर्बल का कर्मबन्ध न्यून होता है ।

'जीव, अजीव' अधिकरण भेदसे भी कर्मबन्धमें विशेषता होतीहै इसका स्वरूप आगे के सूत्र से कहते हैं । उपरोक्त कारणोंमे भी कषायिक परिणामोंकी विशेषतापर कर्मबंधकी विशेषता निर्धारितहै. इसीके तारतम्यत्वसे कर्मबन्धमें न्यूनाधिकता होतीहै ॥ ७ ॥

अधिकरण के भेद ।

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ८ ॥

आद्य सरम्भसमारम्भारम्भारम्भयोगकृतका
रितानुमतकषाय विशेषै स्त्रिस्त्रिस्त्रि श्चतुश्चैकश ॥ ९ ॥
निर्वर्तना निक्षेप सयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदा परम् ॥ १० ॥

अर्थ—अधिकरण जीव और अजीव रूप है ॥ ८ ॥

प्रथम जीव रूप अधिकरण सरभ, समारभ आरभ योग (मन, वचन, काय,) कृत, कारित, अनुमत और कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ,) भेद से क्रमश तीन, तीन, तीन और चार प्रकार के हैं। ॥ ९ ॥

'पर' अर्थात् अजीवाधिकरण क निर्वर्तना, निक्षेप, सयोग और निसग रूप भेद अनुक्रम से दो चार, दो और तीन प्रकार के हैं॥१०॥

विवेचन—जिसके आधार से कार्य होता है उसको अधिकरण कहतेहैं जितने शुभाशुभ कार्य हैं वे जीवाजीव उभय पक्ष द्वा रा सिद्ध होतेहैं केवल अकेले जीव अथवा अजीव से सिद्ध नहीं होते, इसलिये कर्मबन्ध का साधन जीव अजीव दोनों अधिकरण शस्त्र रूपहैं और वे द्रव्य तथा भाव रूप दो,दो प्रकार के हैं व्यक्तिगत जीव और वस्तु रूप अजीव-पुद्गल स्कन्ध को द्रव्य अधिकरण कहते हैं और जीवगत कषायादि परिणाम तथा वस्तुगत अर्थात् तल वारकी तीक्ष्णता रूप शक्ति आदि को भाव अधिकरण कहते हैं।

जीव अधिकरण के उपरोक्त सूत्रार्थ में क्रमश तीन, तीन, तीन, और चार भेद बताये हैं उनके परस्पर विकल्प उठानेसे एकसौआठभागे (अवस्था विशेष) होतेहैं ससारी जीव शुभ अथवा अशुभ किसी एक प्रवृत्तिमे प्रवतमानहोताहै उस समय उक्त एक सौ आठ अवस्थाओंमे से किसी एक अवस्थामें अवश्यहोताहै इसलिये वे अवस्थायें भावाधिकरण हैं।

प्रमादि जीव हिंसादि कार्यके प्रयत्नका आवेश (चिंतवन)

करे उसको संरंभ कहते हैं, तथा उस कार्यके लिये साधन संग्रह करना समारंभ कहलाताहै और कार्यमें प्रवर्तमान होनेको आरंभ कहतेहैं अर्थात् कार्य को संकल्पात्मक सूक्ष्मावस्थासे पूर्ण प्रगट होनेतक तीनअवस्थायें मानीहैं उन्हीं को संरंभ, समारंभ, आरंभ कहतेहैं। और वे योगोंद्वारा होतीहै योग तीन प्रकार केहैं, मनयोग वचनयोग, कायायोग। कृत का अर्थ स्वयम् करना, कारित का अर्थ दूसरेसे कराना अनुमतकाअर्थ किसीकार्यमें सहमत होना और क्रोधादि चार कषाय प्रसिद्ध ही हैं।

संसारी जीव दान, व हिंसादि शुभाशुभ कार्य करते हैं, उस समय क्रोध अथवा मानादि चार कषायोंमें से किसी एक कषाय प्रेरित अवश्य होतेहैं पश्चात् चिन्तवनादि संरंभ, समारंभ, आरंभ को मन, वचन कायासे स्वयम् करताहै या कराताहै अथवा किये हुए कार्यमे सहमतहोताहै, इसी के १०८ विकल्प होतेहैं ॥ ६ ॥

परमाणु आदि मूर्तिमान वस्तु द्रव्यअजीव अधिकरणहै और जीवकी शुभाशुभ प्रवृत्तिमें उपयोगित मूर्तिद्रव्य जिस अवस्थामे वर्तमानहो उसे भाव अजीव अधिकरण कहतेहैं. प्रस्तुत सूत्र में (निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग, निसर्ग) जो अजीव अधिकरण के मुख्य चार भेद बतांये है वे भाव अजीव अधिकरण के समझने चाहिये।

(१) निर्वर्तना रचना विशेष को कहते हैं इसके मूल गुण निर्वर्तना और उत्तरगुण निर्वर्तना रूप दो भेदहैं, मूल गुण निर्वर्तना अधिकरण पांच प्रकारके है, पुद्गल द्रव्यकी औदारिकादि शरीररूप रचना और जीवकी शुभाशुभ प्रवृत्तियोंमें अन्तरंगसाधनपने उपयोगी होनेवाले मन, वचन, तथा प्राण और अपान । उत्तर गुण निर्वर्तनाधिकरण काष्ठ, पुस्तक, चित्रकर्मादि जो रचना बहिरंग साधनपने जीवकी शुभाशुभ प्रवृत्तिमे उपयोगी होतीहै।

(२) निक्षेप स्थापित करना, इसके मुख्य चार भेद हैं (१) अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण अर्थात् बिना अन्वेषण किये (बिनादेखे) किसी वस्तु को कहीं स्थापित करना। (२) दु प्रमार्जित निक्षेपाधिकरण अर्थात् देख करके भी वस्तु वास्तविक रूपसे बिना प्रमार्जन किये इधर उधर रखदेना। (३) सहसा निक्षेपाधिकरण-अथात् देखी और प्रमार्जन की हुई वस्तुको शीघ्रता पूर्वक किसी स्थानमें रखना। (४) अनाभोग निक्षेपाधिकरण अर्थात् बिना उपयोग किसी वस्तु को कहीं रखना इत्यादि।

(३) संयोग एकत्रित करना इसके मुख्य दो भेद हैं (१) भक्तपान संयोगाधिकरण अर्थात् अन्न, जलादि भोजन सामग्री का संयोग (२) उपकरण संयोगाधिकरण अर्थात् भोजन से भिन्न सामग्री वस्त्राभूषणादिका संयोग करना इत्यादि (४) निसर्गाधिकरण प्रवर्तमानहोना, इसके मुख्य तीन भेद हैं, शरीर, वचन और मन की प्रवर्तना इसको अनुक्रमसे कायनिसर्ग, वचननिसर्ग और मननिसर्ग कहतेहैं।

उपरोक्त इसी अध्याय के पाचव सूत्रमें सकषायिक योगसे सम्परायिकाश्रव और अकषायिकयोगसे ईर्यापथिकाश्रव कहाहै इसलिये सम्परायिक आश्रवहै वह आठकर्मोकाहै इसके मूल प्रकृत्ति तथा उत्तर प्रकृतिका सविस्तार वर्णन अध्याय आठवॉमें कहेंगे—यहॉ केवल इतना ही समझाते हैं कि किन २ सम्परायिक आश्रवोंसे कौन २ सा कर्म बन्धहोताहै, बन्धहेतुओंकी भिन्नतासे कर्मोकी भिन्नता होतीहै, इसलिये उनके बन्धहेतुओंका वर्णन आगे के सूत्र से करतेहैं ॥ १० ॥

सम्परायिक आश्रव कर्म के भिन्न २ बन्धहेतु

तत्प्रदोषनिन्हव मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ।

ज्ञान दर्शना वरणयोः ॥११॥ दुःखशोक तापाक्रन्दन वध
परिदेव नान्यात्मपरो भय स्थान्य सद्वेद्यस्य ॥१२॥ भूत
व्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति
सद्वेद्यस्य ॥१३॥ केवली श्रुतसंघ धर्म देवा वर्णवादोदर्शन
मोहस्य ॥१४॥ कषायोदयात्ती व्रात्म परिणाम श्चारित्र
मोहस्य ॥१५॥ बह्वारम्भ परिग्रह त्वंच नरकायुषः ॥१६॥
मायाः तैर्यग्योनस्य ॥१७॥ अल्पारंभ परिग्रहत्वं स्वभावमा-
र्दवार्जवंच मनुषस्य ॥१८॥ निःशीलव्रतत्वं च सर्वोषाम ॥१९॥
सराग संयम संयमा संयमा काम निर्जरा बाल तपांसिदेवस्य
॥२०॥ योग वक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥२१॥
विपरीतं शुभस्य ॥२२॥ दर्शन विशुद्धि विनय सम्पन्नता शील
व्रतेष्व नतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोग संवेगौ शक्ति तस्त्यागत
पसी सङ्घ साधु समाधिर्वै यावृत्य करण मर्हदाचार्य बहुश्रुत
प्रवचन भक्ति रावश्यकापरिहाणि मार्ग प्रभावना प्रवचन
वत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य ॥२३॥ परात्मनिंदा प्रशंसे सदसद्
गुणाच्छादनोद्भाव-नेच निचैर्गोत्रस्य ॥२४॥ तद्वि पर्ययो
नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य॥२५॥विघ्न करण मन्तरायस्य॥२६॥

अर्थ—तत्प्रदोष, निन्हव, मत्सर, अन्तराय, आशातना
: उपघात आश्रव ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मके बन्धहेतुहै॥११

दुःख व शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवना स्व अथवा पर के आत्मा में या उभय आत्मा में रहे हों या उत्पन्न किये जाय तो वे असद्वेदना कर्म के आश्रव होते हैं ॥ ११ ॥

भूत—अनुकम्पा (सब प्राणियों पर दया), व्रतियों पर अनुकम्पा, दान, सराग सयमादि तथा योग क्षान्ति और शौच सातावेदनीय कर्मबन्ध हेतु आश्रव है ॥ १३ ॥

केवली, श्रुत सघ धर्म और देव के अवर्णवाद करना दर्शनमोहनीय कर्म के बन्धहेतु आश्रव हैं ॥ १४ ॥

कषायोदयी तीव्र आत्मपरिणाम चारित्रमोहनीय कर्म के बन्धहेतु आश्रव है ॥ १५ ॥

अति आरम्भ और अति परिग्रह नरकायुष्यकर्म का बन्धहेतु है ॥ १६ ॥

माया—तिर्यंच योनि के आयुष्य का बन्धहेतु आश्रव है ॥

अल्पारभ, अल्पपरिग्रह, मृदुता, लघुता मनुष्यायु के बन्धहेतु आश्रव है ॥ १८ ॥

नि शील और व्रतरहित होना सब आयुष्यों का बन्धहेतु है ॥ १६ ॥

सराग सयम संयमासयम अकामनिर्जरा और बालतप देवायुष्य के आश्रव होते हैं ॥ २० ॥

योगों की वक्रता और विसवाद अशुभनाम कर्मका बन्धहेतु है ॥ २१ ॥

और इससे विपरीतता शुभ नाम कर्म का हेतु है ॥ २२ ॥

दर्शन विशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील तथा व्रत में सर्वथा अप्रमादता निरन्तरज्ञानोपयोग, ससार से वैराग्य, भाव, शक्तिके अनुसार त्याग, और तप सघ, साधुसमागम, वैयावृत्य सेवाशुश्रूषा, अरिहन्त, आश्रय बहुश्रुत, तथा प्रवचन की भक्ति,

सामायिकादि आवश्यक क्रियाओं, अपरिहार, मोक्षमार्ग की प्रभावना-महत्ता, और प्रवचन वात्सल्यता ये सब गुण तीर्थंकर नामकर्म के हेतुआश्रव हैं ॥ २३ ॥

परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणों का आच्छादन, नीचगोत्र कर्म का बन्धहेतु है ॥ २४ ॥ और इस से विपरीतता ऊंच गोत्र का बन्धहेतु है ॥ २५ ॥

दानादिमें विघ्न न करना अन्तरायकर्म के बन्धहेतु का आश्रव होता है ॥ २६ ॥

विवेचन—ग्यारहवें सूत्र से यावत् इस सम्पूर्ण अध्याय पर्यन्तके सबसूत्रों में कर्मप्रकृत्ति के बन्धहेतुओंका क्रमशः वर्णन यद्यपि समस्त कर्मप्रकृतियों का बन्धहेतु सामान्यतः योग और कषाय है तथापि कषायजन्य अनेक प्रकारकी प्रवृत्तियों में से कौनसी प्रवृत्ति किस कर्मकाबन्धहेतु होता है, इसीको बताना प्रस्तुत सूत्रों का उद्देश है ॥

ज्ञानावर्णीय दर्शनावार्णीय कर्म के बन्धहेतु

(१) ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों प्रति द्वेष करना इस को तत्प्रदोष कहते हैं, (२) निन्हव-कलुषित भाव से ज्ञान की अवज्ञाकरनी या ज्ञानादि को छिपाना, (२) मात्सर्यज्ञान की योग्यता पूर्वक ग्रहण करने वाले पर कलुषित वृत्ति (४) अन्तराय ज्ञानको पढ़नेवाले प्रति विघ्न करना या उस के साधनों का विच्छेद करना (५) आसादन-ज्ञान प्रकाशित करते हुवे को रोकना, (६) उपघात-प्रशस्त ज्ञानमें दोष लगाना, ये ज्ञानावर्णीय कर्म के आश्रव है ऐसे ही इन्हीं कारणोंसे दर्शनावर्णीय कर्मका भी बन्धुहेतु होता है ।

आसाता-वेदनीय कर्म के बन्धुहेतु ।

(१) दुःख-बाह्य तथा आंतरिक पीडा रूप परिणाम (२) शोक

अनुअहित हटाने की वृत्ति से रहित होने पर विकलितावस्था (३) ताप-पश्चाताप, (४) आक्रन्दन-शोकादिसे व्यक्तरूप रोदन, (५) वध-प्राणोंका वियोग करना, (६) परिदेवना- वियोगीके गुणोंका स्मरण करके करुणाजनक रुदन-उपरोक्त दु खादि छ तथा अन्य ताडन, तर्जनादि अनेकप्रकारके निमित्त स्व तथा परमें उत्पन्न करने से असाता वेदनीय कर्म बन्धहोता है।

प्रश्न—दु खादि कारणोंको स्व तथा परमें उत्पन्न करनेसे यदि असातावेदनी ही कर्मबन्धहोता है तो लोच तथा उपवासादि तपश्चर्या और आसन आतापनादिसे आत्माको दु खित करना भी असाता वेदनी कर्म का बंधक होगा तबतो व्रत नियम अनुष्ठानादि करना पाप को बंधहेतु होना है।

उत्तर—क्रोधादि के आवेश से उत्पन्न होने वाले दु खादि निमित्त आश्रवरूप होते हैं, अन्यथा सामान्य तथा सबप्रकारसे त्याज्यरूप नहीं है यथार्थ त्यागी और तपस्वियोंके लिये वे आश्रव रूप नहीं होते और न असाता वेदनी के ही बन्धक होतेहैं इसके मुख्य दो कारण हैं पहिला कारण तो यह है कि उत्कृष्ट त्यागवृत्ति वाले कितने ही कठिन से कठिन नियम, अनुष्ठानादि करें परन्तु वे सद्वृत्ति और सद्बुद्धि के कारण कठिन दु खादि सयोग प्राप्त होने पर भी क्रोध, सन्तापादि कषायों को प्राप्त नहीं होते और बिना कषाय के आश्रव हो नहीं सकता दूसरा कारण यह है कि वास्तविक त्यागवृत्ति वालों की चित्तवृत्ति सदा प्रसन्न चित्त रहती है और कठोर व्रत, नियम पालने में भी प्रसन्नताही रहती है दु ख शोकादिका प्रसग कभी उपस्थित नहीं होता कदाचित् कोई किसी प्रसगवशात् दुखी भी हो जायतो इसका मतलब यह नहीं है कि सब व्रमें ही दु खी होते हों। व्रतपालन करने में जिनको

मानसिक रति है उनको दुःख रूप नहीं है किन्तु सुखरूप है जैसे-कोई दयालु वैद्य या डाक्टर किसी रोगी के शरीरका चीर फाड करता है और दुःख अनुभव होता है उसके लिये वे निमित्त रूप हैं तथापि करुणा जनक सद्वृत्ति के कारण वे पापके भागीनहीं होते, इसी तरह सांसारिक दुःख दूर करने के उपायोंको प्रसन्नतापूर्वक अंगीकार करता हुआ त्यागी भी सद्वृत्ति के कारण पाप बन्धक नहीं होता।

सातावेदनीयकर्म के बन्धहेतु ।

(१) भूत अनुकम्पा-सर्व प्राणियों पर दया व कृपा दृष्टि (२) वृत्यनुकम्पा--अल्पांश वृतधारी गृहस्थ और सर्वांश वृतधारी त्यागी दोनों पर विशेष दया. (३) दान-अपनी वस्तु किसी को नम्रता से अर्पण करना, (४) सराग संयमादि योग अर्थात् सराग संयम जो संसार से विरक्त भाव तृष्णा हटाने में तत्पर होवे संयम स्वीकार करने पर भी जबतक मनके रागादि संस्कार क्षीण नहीं होते उसको सराग संयम कहते हैं, देशमात्र (थोड़ा) संयम स्वीकारनेको संयमासंयम कहते हैं. स्वेच्छा से नहीं परन्तु स्वाभाविक या परतंत्रपने से भुक्तमान कर्म अथवा त्याग वृत्तिको अकामनिर्जरा कहते हैं, विना ज्ञानके अग्निप्रवेश, जलपतन अनसनादि तपको बालतप कहते हैं. (५) क्षान्ति -धर्मदृष्टिसे क्रोधादि दोषोंका दमन, (६) शोच इत्यादि इनके तरफ लक्ष देना है वह सातावेदनीय कर्मका बन्ध हेतु है. अर्थात् पूर्वोक्त कारणों से सातावेदनीय कर्मका बन्धहोता है।

दर्शन मोहनीय कर्म के बन्धहेतु

(१) केवली-परमर्षि का अवर्णवाद अर्थात् असत्य दोषारोपण करना, (२) श्रुत-धर्म शास्त्रोंको द्वेषबुद्धिसे असंगत कहे

उनके अवर्णवाद कहना, (३) सघ-साधु, साध्वि, श्रावक इस चतुर्विध सघ पर मिथ्या दोषारोप करके अवर्णवाद बोलना, (४) धर्म-अहिंसादि स्याद्वादमयी परमोत्कृष्ट धर्मका विना जानें समझे अवर्णवाद बोलना (५) भवनपत्यादि देवों का अवर्णवाद (निन्दा) करना यह सब दर्शन मोहनीय कर्म के बन्ध हेतु है।

चारित्र मोहनीय कर्म के बन्ध हेतु

(१) स्वतथा पर में कषाय उत्पन्न करने की चेष्टा करनी अथवा कषाय के वश होके तुच्छ प्रवृत्ति करनी वह कषाय मोहनीय के बन्ध का कारण है, (२) सत्यधर्म अथवा गरीब या दीन मनुष्य का उपहास करना इत्यादि हास्यवृत्ति से हास्य मोहनीय कर्म बन्ध होता है, विविध क्रिडादि में तत्पर रहना रतिमोहनीय कर्मका बन्ध हेतु है, (४) दूसरों को कष्ट पहुंचाना किसीके आराममें बाधा डालनी इत्यादि अरति मोहनीय कर्मका बन्ध हेतुहै (५) खोटे शोकातुर रहना या शोकवृत्ति को उत्तेजित करना शोक मोहनीय कर्म के बन्ध का कारण है, (६) स्व तथा पर में भय उपार्जित करना भय मोहनीय कर्मका बन्धहेतुहै (७) हितकर क्रिया और हितकर आचरण जुगुप्सा मोहनीय कर्मबन्ध हेतु होता है, (८९१०) ठगी या परदोष दर्शन के स्वभाव से स्त्रीवेद और स्त्रीजाति योग्य या पुरुष जाति योग्य अथवा नपुसक जाति योग्य सस्कारों के अभ्यास से स्त्री, पुरुष, नपुसक वेद का यथा क्रम बन्ध होता है, ये सब चारित्र मोहनीय कर्मके बन्ध हेतु आश्रव है।

आयुष्यकर्म के बन्धहेतु

नरकायुष्य—(१) प्राणियों को दुख हो ऐसी कषाय पूर्वक प्रवृत्ति आदि से महारंभ करना (२) धन कुटम्बादि पर ममत्व

भाव एवं महापरिग्रहों को बढ़ाने की तीव्र इच्छा करना (३) पंचेंद्रियकी घात करना (४) मांस भक्षी इत्यादि कारण नरकायुष्य बन्धके हेतु हैं।

तिर्यंचायुष्य—(१) माया—छल कपटादिके भावों से पर को ठगना (२) गूढमाया—माया में माया (३) कूटतोलमाप (४) असत्य लेखादि का लिखना यह तीर्यंचायुष्य बन्ध के हेतु हैं।

मनुष्यायुष्य—(१) स्वभावसे ही भद्रिक=सरल (२) मृदुता नम्रता गुणीजनों का विनयभाव करना (३) दीन दुःखियों पर दयाभाव लाना [४] दूसरों की सम्पतिदेख मत्सरता न लाना तथा अल्पारंभ अल्पपरिग्रह अर्थात् अपनी इच्छाओं को रोकना ये मनुष्यायुष्यबंध के हेतु हैं।

अपने शील और व्रत से च्युत होना निःशील व्रत कहलाता है और वह सब [नरक, तिर्यंच मनुष्य] आयुषों का बन्ध हेतु है उपरोक्त सूत्र १६-१७-१८ में उक्तायुषों के जूदे जूदे बन्ध हेतु बताये हैं, तथापि प्रस्तुत सूत्र से तीनों आयुषों का सामान्य बन्ध हेतु बताया गया है. [१] अहिंसा, सत्यादि पांच नियम हैं वे व्रत कहलाते हैं. [२] उनकी पुष्टि के लिये तीन गुण व्रत, चार शिक्षाव्रत और क्रोध लोभादि का त्याग शील कहलाता है इस से विपरीत होना ही निः शील व्रत है और इन बन्ध हेतुओं की तीनों आयुषों में सामान्यता पाई जाती है।

देवायुष्य—[१] अहिंसा, असत्यादि महत् दोषों के विरमण अर्थात् त्याग को संयम कहते हैं. संयम, विरती, व्रत ये सब एकार्थ वाची शब्द हैं. इनका वर्णन अध्याय ७ सूत्र १ से किया जायगा उसके होते हुवे भी कषाय के अंशका जबतक सम्पूर्ण रूपसे अभाव न हो उसको सराग संयम कहते हैं (२) अहिंसादि व्रतों को यत्किंचित् रूपसे पालन करनेको संयमासंयम कहते हैं. संयमा

मयम, देशविरति, अणुव्रत ये एकार्थ वाची शब्द हैं अतएव देश तथा सर्वव्रतका स्वरूप आगे अध्याय ७ सूत्र २ से कहेंगे, [३] स्वाभाविकता या पराधीनता के कारण भोगवृत्ति से निवृत्त होना या कर्मों के भोग को अकामनिर्जरा कहते हैं [४] बाल तप अर्थात् अविवेक या मूढ भाव से जो तपश्चर्या की जाय जैसे अग्नि या जल में प्रवेशकरना या पर्वतपर से गिरना और मिथ्या जपने से की हुई क्रियाओं को बाल तप कहते हैं इत्यादि आश्रव हैं वे देवायुष्य वन्ध हेतु के कारण हैं।

शुभ तथा अशुभ नाम कर्म के बन्ध हेतु ।

(१) योगवक्रता=मन, वचन, कायकी कुटिलता (२) विसंवाद-अन्यथा प्रवर्तन करना ये अशुभ नाम कर्म के बन्ध हेतु हैं।

प्रश्न—उपरोक्त दोनों कारणों में क्या अन्तर है ?

उत्तर—योग वक्रता है वह स्व विषयी है अर्थात् अपने मन, वचन कायकी वक्रतापने प्रवृत्ति करनी और विसंवाद परविषयी है अर्थात् दूसरे को उल्टे रास्ते प्रेरित करना।

उपरोक्त कारणों की विपरीतता अर्थात् मन, वचन, कायकी सरलता और यथार्थ प्रवर्तन शुभ नाम कर्मके बन्ध हेतु हैं।

तीर्थंकर नाम कर्म के बन्ध हेतु ।

(१) दर्शन विशुद्धि-वीतराग के तत्वों पर दृढ़ रुचि (२) विनयसम्पन्न-ज्ञानादि मोक्ष मार्ग और उनके साधनोंका बहुमान (३) शील व्रतादि-अपने नियमोंको निरतीचार (दोषरहित) पने सेवन करना (४) अभिक्ष्ण ज्ञानोपयोग-सदा ज्ञानोपयोग में

रहना (५) संवेग-सांसारिक सुखसे उदासीनभाव (६-७) शक्तितः त्याग, तपस्या यथा शक्ति सुपात्रदान, अभयदान, ज्ञानदानिन्यादि त्याग और तपश्चर्या (८-९) चतुर्विधसंघ तथा साधुओंकी समाधि और वैयावृत्य (सेवाशुश्रूषा), (१०-११-१२-१३) अरिहन्त, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन धर्मशास्त्रकी भक्ति (अनुराग), [१४] सामायिकादि छ आवश्यक अपरिहाणि-त्याग का अभाव अर्थात् नित्य सेवन करना [१५] मार्ग प्रभावना-सम्यक् ज्ञानादि मोक्षमार्गके अनुष्ठान, उपदेशादिसे प्रभावा-महिमा प्रकट करनी, [१६] प्रवचन वात्सल्यधर्मके साध्य, साधकोंपर अनुग्रह [उपकार] निष्काम स्नेह रखना इत्यादि कारण तीर्थकर नाम कर्म उपार्जित करने के वन्ध हेतु हैं।

नीच गोत्र तथा ऊँच गोत्र कर्म के वन्ध हेतु।

[१] परनिन्दा-दूसरे की निन्दा, [२] आत्मप्रशंसा-अपनी बड़ाई [३] सद्गुणों को आच्छादित करना [ढकना] [४] असद् गुणों को प्रगट करना इत्यादि नीच गोत्र [नीच कुल] के वन्ध हेतु हैं।

उपरोक्त नीच गोत्र से विपर्य्यय अर्थात् स्व, परनिन्दा, परगुणी जनों की प्रशंसा तथा असद्गुणों का गोपन और सद्गुणोंको प्रकाशित करना, निर्वृत्ति-सब से नम्र भाव, अनुत्सक-ज्ञान, संपत्ति के होते हुवे भी किसीसे गर्वअहंकार न करना ये ऊंच कुलमें उत्पन्न होने के कारण हैं।

अन्तराय कर्म के वन्ध हेतु।

किसी के भोग, उपभोगादि वस्तुओं में या दानादि देते हुवे रोकना अथवा उसमें विघ्न करना अन्तराय कर्म का वन्ध हेतु है।

प्रत्येक मूल कर्म के सपरायिक आस्रव सूत्र ११-से-२६ पर्यन्त पृथक् रूप से कहेगये है वे उपलक्षण मात्र हैं अर्थात् सामान्याव बोधकराने के लिये हैं इस के सिवाय अन्य और भी बहुत से आस्रव हैं जिनके नाम यहा नहीं लिखे गये हैं उनको अपनी बुद्धि द्वारा समझ लेना चाहिये जैसे आलस्य, प्रमाद, मिथ्योपदेशादि, ज्ञानावरणीय, दर्शना वर्णीय के तथा वध, बधन, ताडतादि अशुभ प्रयोग असातावेदनीय इत्यादि प्रत्येक कर्म के और भी अनेक आस्रव हैं।

प्रश्न—उपरोक्त सूत्रों से प्रत्येक मूल प्रकृति के आस्रव जो पृथक् रूप से कहे गये हैं उन ज्ञान प्रदोषादि आस्रव में मात्र अपने २ ज्ञानावरणीयादि कर्मों का बन्ध होता है कि एक ज्ञान प्रदोष आस्रव मे ज्ञानावरणीय कर्म के उपरान्त वह समस्त कर्म बन्धक है? यदि एक कर्म प्रकृति के आस्रव समस्त कर्म प्रकृति के बन्धक हैं ऐसा कहोगे तो पृथक् रूप से आस्रवों का निरूपण करना व्यर्थ है? क्योंकि वह समस्त कर्म प्रकृतियों का बन्धक है और यदि ज्ञाना प्रदोषादि आस्रव अपनी ही प्रकृति के बन्धक है ऐसा कहोगे तो शास्त्रोक्त नियम से विरोध होता है? सब शास्त्रों का मन्तव्य है कि आयुष्य को छोड के सात प्रकृत्तियों का बन्ध प्रति समय हुवा करता है इस नियम के अनुसार ज्ञानावरणीय कर्म बान्धता हुवा शेष छ कर्मों का बन्धक है (आयुष कर्म का बन्ध जीवन भर में एक ही बार होता है और वह एक समयवर्ति है) ऐसा मानते हैं तो एक समय में एक कर्म प्रकृति का आस्रव एक ही कर्म का बन्धक हो यह शास्त्रीय नियम से बाधित है यहा प्र कृति अनुसार आस्रव कहने का क्या हेतु है? और किस उद्देश पर ये विभाग किये गये हैं?— — —

उत्तर—कर्म बन्ध चार प्रकार से होता है (प्रकृत्ति, स्थिति, रस, प्रदेश) इसका सविस्तार वर्णन देखने वालों को **कम्मपयडी** या **कर्मग्रन्थ** पहिला पांचवा देखना चाहिये यहां केवल रस बन्ध को उद्देश के ही उक्त विभाग किये गये हैं एक प्रकृति के आस्रव सेवन करते समय अन्य प्रकृतियों का जो बन्ध होना है वह बहुधा प्रदेश बन्ध की अपेक्षा से समझना चाहिये अर्थात् शास्त्रोक्त सात, आठ कर्म का बन्ध जो प्रति समय माना है उसमें प्रायः प्रदेश बन्ध की मुख्यता ही सापेक्षित है और ऐसा मानने से शास्त्रीय नियम को भी बाधा नहीं आती प्रस्तुत आस्रव विभाग और शास्त्रोक्त नियम अबाधित रूप से रह सकते हैं परन्तु यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि अनुभाग अर्थात् रसबन्धा श्री आस्रव विभाग का जो समर्थन है उसमें अनुभाग (रस) बन्ध की मुख्यता और शेष प्रकृति, स्थिति, प्रदेश बन्ध की गौणता है और अन्य प्रकृतियों के अनुभाग बन्ध की गौणता रहती है अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म के प्रदोपादि आस्रव सेवन करते समय ज्ञानावरणीय कर्म के अनुभाग (रस) बन्ध की मुख्यता और शेष सात कर्म के रस बन्ध की गौणता रहती है परन्तु यह न समझ लेना चाहिये कि एक समय एक प्रकृति के रस बन्ध होते समय अन्य प्रकृतियों का रस बन्ध नहीं होता उसी समय कषाय द्वारा उन प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध भी संभवित है प्रस्तुत आस्रव विभाग में अनुभाग बन्ध की ही मुख्यता सापेक्ष है।

इति तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त

सप्तम अध्याय।

पूर्व अध्याय ६ठा सूत्र १२ में व्रतिअनुकम्पा और दान ये दो गुण, सातावेदनीयकर्मबन्ध के आश्रव बताये गये हैं अब जैन धर्म में व्रतकी क्या महत्वता है और इसको ग्रहण करने वाले कौन है तथा दान और व्रत का विशेषरूप से निरूपण इस अध्याय में किया जायगा।

व्रत स्वरूप

हिन्सानृतस्तेया ब्रह्म परिग्रह भ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥

अर्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन्य और परिग्रह से निवृत होने को व्रत कहते हैं ॥१॥

विवेचन—हिंसा, असत्यादि दोषों का विशेषरूप से वर्णन आगे सूत्र ८ से १२ पर्यन्त करेंगे उस निर्दोष त्याग वृत्ति को ही व्रत कहते हैं।

सब व्रतों में अहिंसा ही प्रधान व्रत है इसलिये उसका स्थान भी पहिला है और अन्यव्रत उसकी रक्षा के लिये हैं जैसे-पाक (खेत) की रक्षा के लिये बाड की जरूरत रहती है इसी तरह अहिंसा की रक्षा के लिये वे अत्यावश्यकीय हैं।

निवृत्ति और प्रवृत्ति रूप दो पक्ष से व्रत की परिपूर्णता होती है जैसे-सत्कार्यों में प्रवृत्तमान होने के लिये इसके पहिले ही उस विरोधी असत्कार्यों से स्वयमेव निवृति भाव को प्राप्त होता है और जब असत्कार्यों की निवृत्ति होती है तब सत्कार्यों की प्रवृत्ति

स्वयमेव हो जाती है परन्तु यहां स्पष्ट रीति से दोषों की निवृत्ति को ही व्रत माना है तथापि उनमें सत प्रवृत्ति का अंश आ जाता है व्रत अर्थात् इससे मात्र निष्क्रियता न समझ लेनी चाहिये।

प्रश्न—रात्रि भोजन विरमण भी प्रसिद्ध रूप से व्रत के समान माना जाता है उसको सूत्रकार ने क्यों नहीं कहा?

उत्तर—रात्रि भोजन विरमण भी पृथक रूप से व्रत के समान बहुत काल से प्रसिद्ध है। तथापि वास्तविक रूप से वह मूलव्रत नहीं है केवल मूलव्रत निष्पन्न एक आवश्यक व्रत है। ऐसी कल्पनाएं अनेक हो सकती हैं। प्रस्तुत सूत्रकारका ध्येय केवल मूलव्रत निरूपण विषयी है। इसीलिये अवान्तरव्रत मूलव्रतोंमें व्यापक रूप है।

प्रश्न—अंधेरे में दृष्टिगोचर न होने से और दीपक के लिये विविधारंभ प्रवृति होनेसे रात्रीभोजनको हिंसाका अंग मानकर उसके विरमणको अहिंसा व्रत का अंग माना है परन्तु जिसमें उपरोक्त कारणों का प्रसंग ही प्राप्त नहीं जैसे-ठंडा देश या विजलीके दीपकका प्रकाश इत्यादि सहायकहो तो रात्रि और दिवसके भोजनमें क्या न्यूनाधिक पना है?

उत्तर—उष्णप्रधान देश और प्राचीन काल के दीपक के प्रकाश से स्पष्ट रूपसे दिखती हुई हिंसाकी दृष्टिसे ही दिवस भोजनसे रात्री भोजनको विशेष हिंसा प्रद माना है। यह सर्वमान्यहै तथापि किसी अवस्थामें यदि दिन के समान रात्रिभोजनमें भी हिंसा का प्रसंग नहीं दिखता परन्तु समुच्चय दृष्टिसे अथवा खासकरके त्याग जीवनकी दृष्टिसे रात्रिभोजनके बनिस्बत दिनको भोजनकरना विशेष प्रशस्तहै तथा इसमें और भी कई कारण है जैसेः—

(१) आरोग्य दृष्टि से विजली, चन्द्रमादि का प्रकाश कितना

ही स्वच्छ क्यों न हो तथापि सूर्य के प्रकाश के समान सर्वत्र आरोग्यप्रद नहीं हो सकता इसीलिये आरोग्य दृष्टिसे सूर्य के प्रकाश का ही उपयोग विशेषरूपसे स्वीकार करना चाहिये।

(२) त्याग धर्म का पाया संतोष पर है और त्याग जीवनवाले जब दिनकी सब प्रवृत्तियों से निवृत्त होते हैं, उस समय संतोषके साथ भोजन प्रवृत्ति से शान्त होना चाहिये इससे जठराग्नि प्रबल रहती है। नींद अच्छी तरहसे आती है। और ब्रह्मचर्य पालनेवाले को यह नियम अति आवश्यकीय है इससे इन्द्रियाँ उत्तेजित नहीं होती तथा आरोग्य वर्धक है। त्यागजीवी महत् पुरुषोंके जीवन के इतिहाससे भी यही प्रगट होता है और वे दिनके भोजनको ही पसंद करते हैं ॥ १ ॥

व्रत के भेद

देश सर्वतोऽणु महती ॥ २ ॥

अर्थ—अल्पांश विरतिको अणुव्रत कहते हैं और सर्वांश विरतिको महाव्रत कहते हैं ॥ २ ॥

विवेचन—दोषों से निवृत्त होना त्यागबुद्धिवालों का ध्येय है, तथापि सबकी त्यागवृत्ति एकसी नहीं होती यह उनके विकाशक्रम की स्वाधीनता पर निर्भर है। सूत्रकार का उद्देश हिंसादि प्रवृत्तियों से न्यूनाधिक रूप में भी निवृत्ति होनेवालों को विरती मान के उनके दो विभाग किये हैं।

(१) उपरोक्त हिंसा असत्यादि पांच दोषों (पापों) को मन, वचन, कार्य से सर्वथा न करना, न कराना, न करने को अनुमति देना इनको महाव्रत कहते हैं।

(२) उक्त पापों से किसी एक अंश मात्र निवृत होना देश विर-ति को अणुव्रत कहते है।

व्रतों की भावनायें।

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥ ३ ॥

अर्थ—उन व्रतों की स्थिरता के लिये प्रत्येक व्रतकी पांच पांच भावनायें है।

विवेचन—उक्त हिंसादि पांच व्रतों की स्थिरता (दृढता) के लिये प्रत्येक व्रत की पांच पांच भावनायें होनी हैं. जैसे रोगी को औषधके सिवाय पथ्य भी अति आवश्यकीय है वैसे ही विरती को भावनायें अनुकरणीय हैं व्रत की अनुकूलता के लिये स्थूल दृष्टि से जो मुख्य २ प्रवृत्तियां वताई हैं वे ही भावना के नाम से प्रसिद्ध हैं उनमें प्रयत्नशील होने से विरती की सुशीलता और व्रत यथेष्ट परिणामी होते है जैसे—

(१) इर्या समिति (२) मनोगुप्ति (३) एषणा सुमति (४) आदा-ननिक्षेपणा सुमति, (५) आलोकित पान भोज ये पांच भावनायें अहिंसाव्रत की हैं।

(१) अनुवीचिभाषण=अनिंद्य भाषण (२) क्रोधप्रत्याख्यान (३) लोभ प्रत्याख्यान (४) निर्भयता, (५) हास्य का अभाव ये सत्यव्रत की भावनायें है।

(१) अनुवीचि-अवग्रह याचना (अविद्य पदार्थ ग्रहण याचन) (२) अभिक्षण-वारंबार, अवग्रह याचना (३) अवग्रहावधारण, नियमपूर्वक ग्रहण (४) समान धर्मी, अवग्रह याचन, (५) अनुज्ञा-

यित-आज्ञादिये हुए पदार्थों का पान भोजन ये अचौर्य व्रत की भावनायें हैं।

(१) स्त्री, पशु, नपुंसक से या सपर्कित आसन, शयन का विवर्जन, (२) राग युक्त स्त्रीकथा, वर्जन, (३) स्त्रियों की मनोज्ञ इन्द्रिया (अगोपाग) के दर्शनका निषेध, (४) पूर्व कृत भोग विलासादि के स्मरण का निषध, (५) अति पुष्टिकारक वा कामोत्पादक भोजन निषेध ये पाच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनायें हैं।

मनोज्ञ, अमनोज्ञ (१) स्पर्श, (२) रस (३) गध (४) वर्ण (५) शब्द विषे समभाव रखना अर्थात् द्वष, विषाद न करना यह अकिंचन-अपरिग्रह व्रत की भावनायें हैं।

प्रत्येक भावना का विशेष रूप से वर्णन।

पहिले व्रत की भावनायें। स्व, परको क्लेश वा कष्ट न हो ऐसी यत्नापूर्वक गमन करना इर्यासमिति मनको अशुभध्यान से रोकके शुभध्यानमें लगाना, मनोगुप्ति। वस्तुका गवेषण ग्रहण औरउपयोग सावचेतीके साथ उपयोग सहित करना एषणा समिति वस्तु को उठाते और रखते समय यत्नापूर्वक अवलोकन, प्रमार्जनादि करना—आदन निक्षेपण समिति। अन्नपानादि भोजनसामग्री को यत्नापूर्वक अवलोकन करके भोगोपभोग करना-अलोकित पान भोजन।

दूसरे व्रत की भावनायें। विचार पूर्वक बोलना-अनुवीचिभाषण। शेष क्रोध, लोभ, भय हास्य का अनुक्रम से त्याग करना

तीसरे व्रत की भावनायें। (१) जरूरत के माफिक कोई भी वस्तु उपयोग सहित मगाकरलेना अनुवीचि अवग्रह-याचना या मकान पाट पाटलादि प्रत्येक वस्तुके स्वामी यदि पृथक २ हो तो

सबसे यथोचित् याचना करके वस्तु ग्रहण करनी। (२) की हुई वापस वस्तु यदि रोगादि वा अन्य किसी कारण विशेषसे जरूरत होतो वारंवार मांगकर लेनी परन्तु यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि उसके स्वामी (मालिक) को किसी भी प्रकार का क्लेश तो उत्पन्न नहीं होता है-अभित्दण अवग्रह । (३) याचना करते समय वस्तुकी मर्यादा वा यथोचित नियम प्रकाशित करके ग्रहण करना अवग्रहावधारण। (४) अपने समान धर्म वालों ने किसीसे कोई वस्तु याचना करके ली हो और उसकी जरूरत पड़े तो समान धर्म वाले से याचना करके लेनी। (५) विधिपूर्वक ग्रहण किये अन्नपानादि को गुरु समक्ष रखकर उनकी अनुज्ञासे उपयोग करना—अनुज्ञापित पान भोजन ।

चौथेव्रत की भावनायें (१) ब्रह्मचारी पुरुष वा स्त्री को अपने विजातीय व्यक्ति द्वारा सेवन किये हुए आसन शयनका त्याग। (२) काम वर्धक कथाओं का त्याग। (३) कामोद्दीपक अंगोपांग अवलोकनका त्याग। पहिले सेवन किये हुए रतिविलादि भोगोंके स्मरणका त्याग।

पांचवें अपरिग्रह व्रत की भावनाये। पांचों इन्द्रियों को इष्ट मनोज्ञ वा अभिलषित स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्दादि वस्तु की प्राप्ति समय राग वा लोलुपता और अप्राप्ति समय द्वेषादि भावना का त्याग।

त्याग धर्मके विषय जैन संघके महाव्रतधारी साधुओं का स्थान सबसे पहिला और उच्च कोटिका है उसी उद्देश को आगे करके प्रस्तुत भावनाये वर्णन की गई हैं तथापि व्रतधारी अपनी भूमिकाके अनुसार अथवा देशकाल, परिस्थिति वा आन्तरिक योग्यताकी तरफ ध्यानरखता हुआ मात्रव्रतकी स्थिरता वा शुद्धिके लिये उन भावनाओं का संकोच विकास वा न्यूनाधिक

रूप में पल्लवित कर सकता है ॥३॥

अन्य भावनाये।

हिन्सादिष्विहामुत्र चा पायावद्यदर्शनम् ॥ ४ ॥
दुःखमेववा ॥ ५ ॥
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि सत्व गुणाधिक क्लिश्य
माना विनेयेषु ॥ ६ ॥
जगत्का यस्य भावौ च संवेग वैराग्यार्थम् ॥ ७ ॥

अर्थ—हिंसादि पापों को इहलोक तथा पारलौकिक अपाय (श्रेयस्कर कार्यों के नाश का प्रयोग) अवद्य (निंदा कारक) समझे उसको दर्शन भावना कहते हैं ॥ ४ ॥

अथवा हिंसादि पापों से दु ख ही दु ख है ऐसी भावना रक्खे है ॥ ५ ॥

प्राणी मात्र में मैत्री भावना, गुणाधिक में प्रमोद भावना दु खी जनों पर करुणाभावना, अविनयेषु अर्थात् अपात्रोंमें मध्यस्थ्य भावना रखनी चाहिये ॥ ६ ॥

संवेग तथा वैराग्यकी प्राप्ति के लिये जगत् स्वभाव और काय (शरीर) स्वभावोंकी भावनायें करनी चाहिये ॥ ७ ॥

विवेचन—जिसका त्याग किया जाय उसके दोषों का दिग्दर्शन वास्तविक रीति से हो तब वह त्याग वृत्ति अवस्थित रूप से रहसकती है इसलिये अहिंसादि व्रतों की स्थिरता के वास्ते हिंसादि दोषोंको समझना अति आवश्यकीय है और सूत्रकार उसकी दो प्रकारसे व्याख्या करके समझाते है। (१) ऐहिक दर्शन,

पारलौकिक दर्शन अर्थात् हिंसा असत्यादि सेवन करने से इहलोक में जो आपत्तियां स्व, पर विषय अनुभव होतीहैं उसके तरफ सदा लक्ष रखना उसे ऐहिक दर्शन कहते हैं और मरने पर नर्क तिर्यंचादि के अनिष्ट दुःखोंके प्राप्तिकी संभावना करनी उसे पारलौकिक दर्शन करतेहैं अर्थात् हिंसादि दुःष्कर्मोंके समारंभसे उभय लोकमें निन्दित और दुखी होता है इस दृष्टि को सदैव सन्मुख रखनेवाला अहिंसादि व्रतोंका यथोचित पालन कर सकता है और वही अपने नियमों पर अटल रह सकताहै व्रतकी स्थिरता के लिये उक्त भावनायें उपयोगी हैं ॥ ४ ॥

(दुःख मेवा) अर्थात् हिंसादि प्रवृत्तिसे दुःख ही दुःख समझे जैसे—अपने पर किये हुए हिंसा असत्यादि दुष्ट प्रयोगोंसे दुःख क्लेशादि उत्पन्न होता है, वैसे ही सब प्राणियोंको दुःख रूप समझके हिंसादि प्रवृति का त्याग करेः—

प्रश्न—हिंसादिके समान मैथुन इंद्रियों को दुःख नहीं है ? उसके द्वारा इंद्रियों का सुख होता है।

उत्तर—यह सोचना अनुचित है जैसे-दाद या खुजली की खुजलाहट को खुजलाते समय रोगीको अच्छा मालूम होता है परन्तु परिणाम उसका दुःख रूपहै इसी तरह मैथुन भी राग द्वेष रूप व्याधिको बढ़ानेवाला है इंद्रिय लोलुपी उसे सुख रूप मानते हैं वास्तविक में वह दुःख रूपहीहै इसी तरह परिग्रह भी तृष्णा रूप व्याधि ग्रस्त होनेसे त्याज्य ही है। इस प्रकार दुःख ही दुःख की भावना करनेसे व्रती की व्रतमें स्थिरता रहती है ॥ ५ ॥

मैत्री, प्रमोदादि चार भावनायें सद्गुणोंकी वृद्धिके लिये अति उपयोगी है इसहेतु हिंसादि व्रतों की स्थिरता के लिये वे अति आवश्यकीय होनेसे उसका पृथक् रूप से वर्णन किया है वे व्रतके सहायक रूप हैं।

(१) सब प्राणियों पर मैत्री भावना रखने से ही उक्त व्रतों में कुशलता पूर्वक वास्तविक रीति से रह सकता है।

(२) अपने से अधिक गुणवान का सत्कार या गुणानुवाद करना ही प्रमोद भावना है उनकी ईर्ष्याकरनेसे व्रतका नाश होता है और आदर सत्कारसे अपने गुणो की वृद्धि होती है इसलिये व्रति को उक्त भावनायें आदरणीय हैं यह भावना व्रत को पोषण करने वाली है।

(३) क्लिश्यमानदु खी जनों पर अनुकम्पा, दया व हित बुद्धि रखना उसको करुणा भावना कहतेहैं दुखी जनों पर अनुग्रह करनेसे व्रत उज्ज्वल होता है।

(४) प्रत्येक समय केवल प्रवृत्त्यात्मक (ईर्यासमिति से यावत् करुणा) भावनाय साधक रूप नहीं हो सकती अहिंसादि व्रतों को स्थिर रखनेके लिये किसी समय मध्यस्थ भावना भी उपयोगी है अविनय अयोगपात्र, अथवा जड़ संस्कार जिन में सद्वस्तु ग्रहण करने की योग्यता ही नहीं ऐसे पात्रों में मध्यस्त भावना है कारण बिल्कुल शून्य हृदयवाला काष्ट या चित्र के समान उपदेशादि ग्रहण धारण करनेके लिये असमर्थहै ऐसे जीवों को उपदेश देनेसे वक्ता के हितोपदेशकी सफलता नहीं होती इसलिये उनपर उदासीनता मध्यस्थता या तटस्थ बुद्धि रखना ही श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥

संवेग और वैराग्य ही अहिंसादि व्रतों की भूमिका है जैसे चित्र भूमिका की योग्यताके अनुसार चित्रित कियेजाते हैं और उसी योग्यता के अनुसार वे अवस्थित भी रहते हैं, इसी तरह अहिंसादि व्रतोंकी स्थिरता संवेग, वैराग्यकी योग्यता पर निर्भर है। संसार से भीरुता आरंभ, परिग्रहादिमें अरुचि, धर्म से बहुमान या उत्पादव्यय ध्रुव युक्तसत् इत्यादि जानना संवेगहै अर्थात् जगत् स्वभाव की भावना संवेगहै और शरीर स्वभाव की भावना वैराग्य

है। शरीर को नाशवान समझ के उनके भोगोंसे शान्त होकर अभ्यन्तर क्रोधादि विषयों के परित्याग को वैराग्य कहते हैं ॥७-७॥

हिंसा का स्वरूप।

प्रमतयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ ८ ॥

अर्थ—प्रमतयोग से होने वाले प्राणवध को हिंसा कहते हैं ॥८॥

विवेचन—अहिंसादि पांच व्रतों का निरूपण पूर्व कर आये हैं। उन व्रतों का प्रतिपालन जब तक हम हिंसा के स्वरूप को वास्तविक रीति से न समझले तब तक होना अति कठिनहै इसलिये उन व्रतों के प्रतिपक्षिहिंसा असत्यादि दोषों को यथाक्रम समझाते हैं। हिंसा की व्याख्या कारण कार्य रूप दो अंशों से करते हैं प्रमतयोग—राग द्वेष वा असावधान प्रवृत्ति कारण है और हिंसा कार्य रूप है। तात्पर्य यह है कि प्रमतयोग से होने वाले प्राणवध को हिंसा कहते हैं।

प्रश्न—प्राणियों को कष्ट पहुंचाना या वध करना यह हिंसा का अर्थ स्पष्ट रूप से प्रसिद्ध ही है तथापि उसमें प्रमतयोग का प्रक्षेप क्यों किया?

उत्तर—जब तक मनुष्य समाज संस्कार विचार और वर्तन उच्च कोटि के नहीं है तब तक पशु पक्षी आदि अन्य प्राणियों में और उनमें कोई अन्तर नहीं वे हिंसा के स्वरूप को विना समझे विचारे हिंसा को हिंसा न मान कर उस प्रवृति में तत्पर रहते हैं यह मानव समाज की प्राथमिक दशा जब उत्तरावस्था के सन्मुख होके विचार श्रेण्यारूढ होती है उस समय वह अपने विचारों को मथन करता हुआ पूर्व संस्कार और अहिंसा की नवीन भावना से टकराता हुआ अर्थात् एक तरफ हिंसावृत्ति और दूसरी तरफ हिंसा निषेध विषयी अनेक प्रकार के प्रश्न उठाते हैं जैसे—

(१) अहिंसा पक्षपाती भी जीवन धारण करते हैं और जीवन निर्वाह के लिये किसी न किसी प्रकार की जीवहिंसा अवश्य करनी पड़ती है बिना हिंसा के जीवन निर्वाह नहीं होता तो वह हिंसा हिंसा दोष में है या नहीं ?

(२) भूल और अज्ञान मानुषी वृत्ति से कदापि नहीं होते ऐसी केवल्यावस्था को जब तक असम्प्राप्त है, तब तक अहिंसावृत्ति के पक्षपातियों से भी भूल अज्ञान या अन्य किसी भी कारण से हिंसा होना सम्भव है तो वह प्राणनाशक हिंसा, हिंसा दोष में सम्मिलित है या नहीं ?

(३) कई बार देखा गया है कि अहिंसकवृत्ति वाले किसी प्राण धारी को बचाने के लिये या उसके अनुकूल सुखादि पहुंचाने का प्रयत्न करते हुए भी किसी समय उसका परिणाम उस जीवधारी को प्रतिकूल प्राणनाशक रूप हो जाता है ऐसी अवस्था में वह हिंसा क्या अहिंसा दोष में शामिल होगी ? इत्यादि प्रश्न सन्मुख उपस्थित होते हैं उस समय यह हिंसा अहिंसा के स्वरूप की गह राई में उतर कर अनेक गोते खाते हैं, कोई यह निश्चय कर बैठते हैं कि प्राणियों के प्राणों का वध करना, या दुःख देना हिंसा है और किसी का प्राणवध न करना और दुःख न देना अहिंसा है, परन्तु वास्तविक रूप से यह हिंसा, अहिंसा और भी विचारणीय है मात्र प्राणवध या प्राणरक्षा को ही हिंसा अहिंसा नहीं कह सकते इसके लिये उक्त भावनायें भी विचारणीय हैं उनको सन्मुख रखने से ही हिंसा के दोष अदोष का निर्णय हो सकता है और ये भाव नायें राग द्वेष की विविध धाराओं से प्रवाहित होती हैं उसको शास्त्रीय भाषा में प्रमाद कहते हैं ऐसी अशुभ और क्षुद्र भावना से जो प्राणनाश होता हो या किसी को दुःख उपार्जित किया हो

वहीं हिंसा दोष रूप है इसको स्पष्ट करने के लिये ही सूत्रकार ने प्रमतयोग की महत्वता बताई है और हिंसा अहिंसा की भित्ती का निर्माण भी इसी प्रमतयोग पर है।

प्रश्न—प्रमोग के बिना यदि प्राणवध हो वह हिंसा दोष रूप है या नहीं? और यदि प्राणवध नहीं भी होता है तथापि वह प्रमत-योग में प्रवर्तमान है तो उसे क्या हिंसा का दोष लगता है?

उत्तर—अन्य दार्शनिकों के समान जैनदर्शन एकान्ति नहीं है वह प्रत्येक वस्तु को स्याद्वाद रूप अनेकान्त दृष्टि से देखता (मानता) है इसलिये जैन शास्त्रकारों ने हिंसा के मुख्य दो भाग किये हैं एक द्रव्य हिंसा जिसको व्यवहार हिंसा भी कहते हैं दूसरी भाव हिंसा जिसको निश्चय हिंसा कहते हैं प्राण वध करना स्थूल दृष्टि से हिंसा तो है ही परन्तु उसमें प्रमतयोग सूक्ष्म दृष्टि अदृश्य-रूप लगी हुई है अब इसमे जानने योग्य बात यह है कि हिंसा के दोष,दोष का आधार एकान्त रूप से केवल दृश्यमान हिंसा पर अवलम्बित नहीं है वह हिंसक की भावना की स्वाधीनता पर है इसलिये अनिष्ट भावना से की हुई हिंसा दोष रूप है अन्यथा उसे दोषरूप नहीं मानते। शास्त्रीय परिभाषा में उसे द्रव्यहिंसा और भाव हिंसा अथवा व्यवहार हिंसा तथा निश्चयहिंसा कहते हैं जिसमें हिंसा का दोष अबाधित (निश्चय रूप) न हो उसको द्रव्य हिंसा कहते हैं और इसी से विपरीत अर्थात् निश्चयात्मक दोष लगता हो उसको भाव हिंसा कहते हैं और वह दोष रूप है राग द्वेष वा असावधान प्रवृत्ति को ही शास्त्रीय परिभाषा में प्रमतयोग कहा है और हिंसा के दोष का आधार उसी पर है जैसे किसी का प्राणनाश न हुआ हो दुःख भी न पहुंचा हो यदि उस अनिष्ट प्रयोग से सुख की प्राप्ति भी हो गई हो तथापि उस हिंसक की अशुभ भावना के कारण शास्त्रकार उसको भाव हिंसा

कहते हैं वह प्रमतयोग जनित प्राणवधरूप हिंसा की कोटि से सम्मिलित है मात्र प्राणनाश रूप हिंसा इस कोटि में नहीं आ सकती। भाव हिंसा का अर्थ यही है कि जिसमें दोष का स्वाधीन पना हो वह तीनों काल म अबाधित रहती है तीनों काल का कोई यह मतलब न समझले कि वह हिंसा दोष, भूत, भविष्य वर्तमान तीनों जन्म में अबाधित रूप से रहता हो क्योंकि प्रश्नचन्द्र राज ऋषि ने ध्यानस्था अवस्था में प्रमतयोग से ही सप्तमी नरक के दलिये 'कर्मों के पुद्गल' इकट्ठे कर लिये थे परन्तु उन्होंने उसी अवस्था म उसी जगह पर खड़े खड़े केवल ज्ञान भी प्राप्त कर लिया यहा तीनों काल के कहने का तात्पर्य यह है कि काल की सूक्ष्मावस्था एक समय की है और जो कर्म, वर्तमान, प्रथम, समय बधता है वह यदि तीन समय भी अबाधित रुप से रहे तो वह त्रिकालवर्ती कहा जा सकता है और प्रमतयोग से बन्धे हुए कर्म की स्थिति कम से कम असख्यात समय की है। इस अपेक्षा से उस त्रैकालिक भी कह सकते हैं केवली को प्रमतयोग नहीं होता वे अप्रमत हैं बिना प्रमतयोग अर्थात् केवली से हुई हिंसा, हिंसा रूप नहीं मानी उनको कर्मों का बन्ध है वह मात्र एक समय की स्थिति का है इसलिये वह तीनों काल में अबाधित नहीं रहता।

प्रश्न—हिंसाके दोषोंका मूल यदि प्रमतयोग ही है तो उसके साथ "प्राणव्यपरोपणम्" अर्थात् प्राणनाश यह शब्द क्यों रक्खा?

उत्तर—वास्तविक प्रमतयोग ही हिंसाहै परन्तु सर्व साधारण के लिये उसकी त्यागवृत्ति अशक्यहोतीहै इस हेतुसे अहिंसा विकास क्रमके लिये स्थूल प्राण नाश का त्याग प्रथम स्थानमाना है तत् पश्चात् यथा क्रम प्रमतयोग का त्याग जनसमुदायमें सम्प्रवित है प्रमतयोगका त्याग न होते हुवे भी यदि प्राणनाशवृत्ति न्यूनहोतो उससे जीवन शान्तियम होता है, और जन समाज के लिये यह

इष्ट और हितप्राद है मुख्यतया अध्यात्मविकासके साधकों को प्रमत योगरूप हिंसा का ही त्याग इष्ट है, तथापि समुदायक जीवन दृष्टिसे प्राणनाशरूप हिंसाके त्यागको ही अहिंसा की कोटिमें रक्खा है। यदि प्रमतयोग वा प्राण वध ये दोनों पृथक २ करदिये जांय तो उन दोषों का तारतम्यत्व भाव उपरोक्त व्याख्यासे स्पष्ट ही है।

प्रश्न—हिंसा से निवृत्त होना अहिंसा है, परन्तु अहिंसाव्रत धारी को जीवन विकास के लिये कौन २ से कर्तव्य करने चाहिये?

उत्तर—आरंभ, परिग्रह कम करता हुवा जीवन शान्तिमय रक्खे। ज्ञानाभ्यासके लिये पुरुषार्थ के अनुसार सदा तत्पर रहे। सरलता पूर्वक रागद्वेष तृष्णा और कार्याकार्य की विचारणा करके उसके सुधार का यत्न करें।

प्रश्न—हिंसादोषसे आत्मा पर कैसा असर होता है?

उत्तर—चित्त से कोमलता नष्ट होके क्रूरता बढ़ती है स्वभावतः हृदय करोर हो जाता है ॥ ८ ॥

असत्य का स्वरूप।

असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥

अर्थ—असत्य बोलने को अनृत्व कहते हैं ॥ ९ ॥

विवेचन—असत् पद सभ्दाव निषेधक है सूत्रकारने असत्य कथन को ही असत्यं कहाहै तथापि उसमें असत्य चिन्तवन, असत्यकथन, असत्याचरण इत्यादि असत्य दोषों का समावेश होताहै। हिंसा दोषकी व्याख्याके समान असत्य अदत्तादानादि दोषों की व्याख्या भी प्रमतयोग पूर्वक समझनी चाहिये इससे फलितार्थ यह होताहै कि प्रमतयोग वालोंमें ही असत्य दोष संभवित है अप्रमत योगी को असत्य दोष का स्पर्श मात्र भी नहीं है।

असत्य दोष मुख्य दो विभागो में विभाजित किया गया है। (१) अस्तित्व (सद्भाव) रूप होते हुए भी वस्तु का निषेध करना या उसकी अन्यथा रूप से प्ररूपण करनी, (२) सत्य बोलने पर भी यदि किसीको, दुःख या दुर्भाव होताहो वह असत्य ही है।

असत्य के त्यागी (सत्यव्रतधारी) को चाहिये कि वे (१) प्रमतयोग का त्याग करे (२) मन, वचन, काय प्रवृत्ति को एकता रूपसे साधे, (३) सत्य भी यदि दुर्भाव और अप्रियजन्यहोतो उसका कथन, चिन्तवन न करे।

चोरी का स्वरूप।

अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १० ॥

अर्थ—विना दी हुई वस्तुके ग्रहणको स्तेय अर्थात चोरी कहते हैं ॥ १० ॥

विवेचन—तृण मात्र तुच्छ वस्तु भी मालक से विना मागे ग्रहणकरना चोरीहै इस मत के ग्रहण करने वालेको लालसा वृत्ति दूरकरके इच्छित् वस्तुको न्याय पूर्वक ग्रहण करनी चाहिये। दूसरे की वस्तु विनाआज्ञा उठानेका विचार तक भी न करे ॥ १० ॥

अब्रह्मचार्य स्वरूप।

मैथुनमब्रह्म ॥ ११ ॥

अर्थ—मैथुन वृत्ति को अब्रह्म कहते हैं ॥ ११ ॥

विवेचन—अथवा स्त्री पुरुष की अभिलाषा पुरुष स्त्री की अभिलाषा। पुरुष, पुरुष। वा स्त्री, स्त्री यह भ। सजातीय (मनुष्य मनुष्य जाति) विजातीय (मनुष्य पशु जाति) से काम रागसे आवेश

से मानसिक, वाचिक, कायिक, प्रवृत्ति को मैथुन्य कहते हैं या किसी जड़ वस्तु तथा स्वहस्तादि अवयवोंसे किये हुवे मिथ्याचरण (कुचेष्टा) भी अब्रह्मचर्य ही है।

मैथुन प्रवृत्ति के अनुसरणसे सद्‌गुणोंका नाश और असद्‌गुणों की सहसा अभिवृद्धि होती है इसीलिये इसको अब्रह्म कहते हैं।

परिग्रह स्वरूप

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १२ ॥

अर्थ—मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं ॥ १२ ॥

विवेचन—वस्तु छोटी या बड़ी, जड़ या चैतन्य, बाह्य, अभ्यन्तर किसी भी प्रकार की प्रत्यक्ष रूपसे हो या न भी हो परन्तु उसकी ओर आशक्त होके विवेक शून्य होना ही परिग्रहहै। इच्छा, प्रार्थना काम, अभिलाषा परिग्रह तथा मूर्छा ये समानार्थक शब्द हैं।

प्रश्न—हिंसासे परिग्रह पर्यन्त पांचों दोषोंका स्वरूप बाह्यदृष्टि से पृथक्‌रूप है परन्तु वास्तविक अभ्यन्तर दृष्टि से विचार पूर्वक गवेषणा की जायतो कोई विशषता नहीं जान पड़ती कारण उक्त पांचोंव्रतों के दोषों का आधार मात्र राग द्वेष और मोह ही है यही विष वेली है राग द्वेष ही दोष है इतना कहना बस था? वह न कह के हिंसादि दोषोंकी संख्या पांच या न्यूनाधिक रूपसे जो बताई गई है उसका क्या कारण?

उत्तर—राग द्वेष ही मुख्य दोष हैं, इससे विराम या विमुख होना ही एक यथार्थव्रत है तथापि इसके त्याग वृत्तिका उपदेशदेना हो उस समय उन राग द्वेषादि से होने वाली प्रवृत्तियां के समझाने से ही उसका त्याग होसकता है राग द्वेषसे होनेवाली प्रवृत्तियां असंख्याती हैं, तथापि इनमें हिंसादि प्रवृत्तियां मुख्यरूप होने से

और जन समुदायको सरलतापूर्वक बोध कराने के लिये उक्तभेदों का वर्णन किया है उसमें भी मुख्यतया रागद्वेषका त्याग हो सूचित है हिंसा दोष की विशाल व्याख्या में शेष असत्यादि दोषों का भी समावेश होजाते हैं इसी तरह असत्यादि किसी एक दोष की सविस्तार व्याख्या में शेष दोषों का भी समावेश होता है इसी तरह अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य सन्तोषादि किसी एक धर्मको ही मानने वाले अपने माने हुवे धर्म में शेष दोषोंको घटा लेते हैं।

व्रती की योग्यता

निःशल्यो व्रती ॥ १३ ॥

अर्थ—शल्य से रहित हो वह व्रती ॥ १३ ॥

विवेचन—अहिंसा, सत्यादि व्रत ग्रहणमात्र से ही व्रती नहीं हो सकता व्रती होने की योग्यताके लिये सबसे पहली बात कौनसी है उसीको शास्त्रकार प्रस्तुत सूत्र द्वारा प्रकाशित करते हैं "निःशल्यो व्रती" अर्थात् शल्य का त्याग करना व्रतीके लिये सबसे पहली शर्त है मायाशल्य, निदानशल्य, मिथ्या दर्शन शल्य इन तीनों प्रकारके शल्यों से जो रहित है वही यथार्थ रूपसे व्रतोंका पालन करसकता है शल्य रहते हुए व्रत पालने में एकाग्र नहीं हो सकता जैसे—शरीरके किसी एक भागमें कांटा चुभजाने से वह शरीर और मन को अस्वस्थ करके आत्माको एकाग्र नहीं होने देता। इसी तरह शल्य मनको स्थिर नहीं होने देता व्रती को शल्यका त्याग करना पहिली भूमिका है।

व्रती के भेद

अगार्यनगारश्च ॥ १४ ॥

अर्थ—व्रती के दो भेद हैं (१) आगारी (२) अनगारी ॥१४॥

विवेचन—व्रत लेनेवाले की योग्यता एक सरीखी नहीं होती. इसलिये योग्यता की तारतम्यता के अनुसार यहां के व्रतके मुख्य दो भेद प्रतिपादन किये हैं. आगारी और अनगारी. आगारी का अर्थ है गृहस्थ जिसका घरके साथ सम्बन्ध हो उसको आगारी कहते हैं। घरके साथ सम्बन्ध नहीं वह अनगारी त्यागी. श्रमण. मुनि। परन्तु यहां इसका अर्थ लिया गया है कि जो विषय तृष्णा सहित हो वह आगारी और जो विषय तृष्णासे रहित हो वह अनगारी इससे फलितार्थ यह होता है कि गृह सम्बन्ध रखते हुवे भी यदि विषय तृष्णासे विमुख हो वह अनगारी ही है और जंगल में निवास करते हुवे भी यदि विषय तृष्णा सहित है तो वह आगारी ही है आगारी अनगारी का वास्तविक स्वरूप यही है. और इसीके आधारपर ही मुख्य दो भेद किये गये हैं.

प्रश्न—विषय तृष्णा होने से यदि आगारी है तो उसको व्रती कैसे कहसकते हैं ?

उत्तर—स्थूलदृष्टिसे मनुष्य अपने घरमें या किसी नियत स्थान में रहताहै परन्तु किसी अपेक्षासे वह अमुक शहरमें रहताहै. ऐसे भी व्यवहार किया जाता है इसी तरह विषय तृष्णा होते हुवे भी अल्पांश व्रतसे सम्बन्ध रखता है इसीलिये व्रती भी कहते हैं।

आगारी व्रती का वर्णन

अणुव्रतोगारी ॥१५॥

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक पोषधोपवासोपभोगपरिभोग परिमाणा तिथि संविभाग व्रत सम्पन्नश्च ॥१६॥

मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता ॥ १७ ॥

अर्थ— अणुव्रत धारी को आगारी कहते हैं ॥१५॥ वे दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थ दंड, सामायिक, पोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण, और अतिथिसविभाग व्रतों से सपन्न (युक्त) होते हैं ॥१६॥ मरणान्तिक सलेषणा के आराधक भी होते हैं ॥१७॥

विवेचन—यदि अहिंसादि व्रतो को सपूर्ण रूप से स्वीकार करने के लिये असमर्थ है तथापि त्यागवृत्ती की भावना वालों को गृहस्थी मर्यादा में रहते हुये अपनी त्यागवृत्ती के अनुसार व्रतों को अल्पांश स्वीकार कर सकते हैं वे गृहस्थ अणुव्रतधारी (श्रावक) कहलाते हैं।

जो व्रत सम्पूर्ण रूप से ग्रहण किये जाते हैं। उन्हें महाव्रत कहते हैं और पूर्णता के कारण उसमें तारतम्य भाव नहीं है अल्पांश की विविधता के कारण यह प्रतिज्ञा अनेक रूप से मानी गई है प्रत्येक अनुव्रत की व्याख्या यदि करणयोग और उसके भंगों से की जाय तो बहुत विस्तार होता है परन्तु यहा सूत्रकार ने सामान्य रीति से गृहस्थ के लिये अहिंसादि व्रतों को एक एक रूप से वर्णन किया है पाच अणुव्रत त्याग की पहिली भूमिका होने से वे मूलगुणव्रत, कहलाते हैं और इनकी रक्षा पुष्टी या शुद्धि के लिये गृहस्थ अन्य और भी व्रत स्वीकार करते हैं उन्हें उत्तर गुणव्रत कहते हैं उत्तर गुणव्रतों की संख्या सामान्य रूप से यहा सात बताई है।

सामान्यत भगवान् महावीरस्वामी की परम्परा में अणुव्रतो की संख्या पाच ही मानी गई है उसके क्रम में भी कोई मतभेद नहीं है और उत्तर गुणरूप से माने हुयें सात व्रतों की संख्या तो सर्वमान्य है पर तु उसके क्रम में मतभेद है श्वेताम्बरीयसम्प्रदाय में एक तत्वार्थ सूत्र का क्रम वर्तमान सूत्र द्वारा वर्णन करते हैं और दूसरा आगमादि अन्य ग्रन्थों का क्रम जिसमें देशव्रती के स्थान

पर भोगोपभोग है तथा सामायिक के पश्चात देशव्रत का स्थान है जैसे=दिग, भोगो प्रभोग, अनर्थ दंड, सामायिक, देशावागासिक, पोषधोपवास और अतिथिसंविभाग यह क्रम होने हुये भी तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत सर्वमान्य हैं और दिगम्बरीय सम्प्रदाय में ७ उत्तर-गुणव्रत का विषय क्रम और अर्थ विकास के लिये वर्तमान में ६ परम्परायें देखी जाती हैं, जिसके लिये देखो जैनाचार्यों का शासन भेदनामक पुस्तक।

पांच अणुव्रतों के नाम

(१) गृहस्थ जीवन में मन, वचन, कार्य से सर्वथा हिंसा का त्याग नहीं हो सकता इसलिये अपनी त्यागवृत्ति की योग्यता के अनुसार मर्यादापूर्वक हिंसा का त्याग करे, यह अहिंसाणुव्रत है, इसी तरह असत्यादि परिग्रह पर्यन्त (२-५) व्रतों का अपनी परिस्थिति के अनुसार मर्यादित रूप से त्याग करना ही अणुव्रत है।

तीन गुण व्रत

(६) अपनी त्यागवृति के अनुसार चारों दिशि के परिमाण की मर्यादा करे इससे मर्यादा के बाहरी क्षेत्रों में सब प्रकार के अधर्म से निवृत्ति होती है उसे दिग्व्रत कहते हैं, (७) दिशि का मान हमेशा के लिये किया हुआ है तथापि उसमें प्रयोजन के अनुसार प्रतिदिन क्षेत्र की मर्यादा करे उसे देशव्रत कहते हैं (८) अपनी जरूरत के सिवाय निरर्थक प्रवृत्ति करनी यह अनर्थ दंड है उससे निवृत्त होना उसे अनर्थदंड व्रत कहते हैं।

चार शिक्षा व्रत।

(९) काल की मर्यादा करके अधर्म प्रवृत्ति से निवृत्त होकर उतने समय तक धर्म प्रवृत्ति में स्थिर होने का अभ्यास करे उसको सामायिक व्रत कहते है (१०) अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों

में उपवास करे धर्मजागरण करे उसको पौपधोपवास व्रत कहते है (११) जिसमें बहुत अधर्म या आरम्भ समारम से ऐसे आहार विहार अर्थात् भोगोपभोग की वस्तुओं का यथाशक्ति त्याग करे न्यूनारम्भ वस्तुओं की मर्यादा करे उस भोगोपभोग परिमाण व्रत कहते है (१२) शुद्ध भाव, शक्तिपूर्वक सुपात्र दान को अतिथि संविभाग व्रत कहते हैं।

कषाय अन्त करने के लिये शरीर पौष्टिक कारणों को दूर करता हुआ केवल उसके निर्वाह हेतु अल्पोदन (अल्पहार) या काल, संगठन की दुर्बलता तथा उपसर्गादि दोषों को जानकर अल्प आहार या चतुर्थ षष्ठ, अष्टम भक्त आदि द्वारा आत्मा को नियम में लाके संयम में प्राप्त हों उत्तम व्रत सपन्न हो उसको सलेषणा व्रत कहते हैं यह व्रत शरीर के अन्त समय सूधी ग्रहण योग्य होने से इसको मरणान्तिक सलेषणा भी कहते है चारों आहार को त्याग कर जीवन पर्यन्त भावना, तथा अनुपेक्षा में तत्पर स्मरण और समाधि में बहुधा परायण ऐसे सलेखना सेवी उत्तम अर्थ के आराधिक होते हैं।

प्रश्न—सलेखनावती अनशनादि द्वारा शरीरान्त करताहै, इस लिये वह आत्मवध हुवाहै और आत्मवध है, वह स्वहिंसा है इसलिये इसको त्याग धर्म (व्रत) कैसे कहतेहो ?

उत्तर—मात्र बाह्य दृष्टिसे दु ख वा प्राणनाश रूपहिंसा, हिंसाकी कोटिमें नहीं है हिंसाका वास्तविक स्वरूप राग द्वेष और मोहकी वृत्ति पर अवलम्बितहै। सलेखनाव्रतमें प्राणनाशहै, तथापि वह रागद्वेष, मोहजनित नहीं होने से हिंसा कोटिमें सम्मिलित नहीं होता किन्तु उस (सलेखनाव्रत) का जन्म निर्मोह और वीतराग भावकी साधनासेहै, और व्रतकी पूर्णता भी उक्त भावनाकी सिद्धिके

प्रयत्न से होती है इसलिये धर्म शुभ या शुक्ल ध्यान की श्रेणी में सम्मिलित होता है ।

प्रश्न—कमलपूजा, भैरव जप, जल समाधि, आदि अनेक प्रकार से होनेवाली हिंसाको धर्म रूप माननेवालोंकी प्रथामें और सल्लेखनाकी प्रथामें क्या अंतर है ?

उत्तर—प्राणनाश की स्थूल दृष्टि से दोनों तुल्य हैं परन्तु भावना की तरफ दृष्टिपात करने से तारतम्य भाव स्पष्ट रूप से प्रगट होता है कहां आत्म संशोधन की भावना और कहां लौकिक आशाओं के कारण या अन्य किसी प्रलोभन के आवेश से की हुई क्रियावृत्ति तत्वज्ञान की दृष्टि से दोनों उपासकों की भावनायें पृथक रूप होने से वह हिंसा तुलनात्मक नहीं हो सकती जैन उपासना का ध्येय तात्विक दृष्टि से केवल आत्मशोधन ही है किन्तु परार्पण या पर प्रसन्नता की तरफ किंचितमात्र भी उनका दृष्टिपात नहीं है किसी प्रकार का दुर्ध्यान उपस्थित नहीं हो ऐसी अवस्था में ही यह व्रत विधेय (ग्राह्य) रूप माना गया है ॥१६-१७॥

सम्यग् दर्शन के अतिचार ।

शङ्का काङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टि प्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ॥१८॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि के पांच अतिचार है शंका, कांक्षा विचिकित्सा अन्य दृष्टि प्रशंसा और अन्य दृष्टि की सम्भावना ॥ १८ ॥

विवेचन—किसी प्रकार की स्खलना (दोष) से स्वीकार किये हुये गुणों में मलिनता उत्पन्न हो या धीरे धीरे हानि अवस्था को प्राप्त हो ऐसे दोषों को अतिचार कहते हैं ।

चारित्रका मुख्याधार सम्यक्त्व है इसकी विशुद्धता पर चरित्र की शुद्धि अवलम्बित है इसलिये सम्यक्त्वकी शुद्धि में जिससे बाधा पहुँचती हो या सभव हो ऐसे अतिचार (दोष) मुख्यतया पाच बताये गये हैं।

(१) शका—सम्यक्दृष्टि जीवोंको अर्हत् भगवान् कथित अति सूक्ष्म, अतीन्द्रिय तथा केवल ज्ञान या आगमप्रमाणसे ग्राह्य पदार्थों में सदेह करना उसको शका अतिचार कहते हैं। जन सिद्धान्तोंमें सशय और तत्पूर्वक परीक्षा इसकेलिये पूण तया स्थान है तथापि यहाँ शका को अतिचार कहा जिसका कारण यह है कि तर्कवाद की कसौटी पर कसने योग्य पदार्थों को तकदृष्टिसे प्रयत्न न करने से, वह श्रद्धागम्य वस्तुओंको यथाथ बुद्धिगम्य नहीं कर सकता और विना यथार्थ बुद्धिगम्य किये किसी समय वह विकार भावको प्राप्त होजाय ऐसा जो शका दोष वह अतिचार रूपसे त्याज्य रूपहै

(२) कॉक्षा—ऐहिक तथा पारलौकिक विषयोंकी अभिलाषा को काक्षा कहते हैं। साधक अभिलाषी होनेसे गुण-दोषों का विचार नहीं कर सकता इसलिये वह अपने सिद्धान्त पर भी अवस्थित नहीं रह सकता वास्ते काक्षा अतिचार दोष रूप है।

(३) विचिकित्सा—जहा मतिभेद या विचारभेद का प्रसग हो वहां स्वमति से निर्णय किये विना ही सबके वचनोंको यथार्थ रूपसे मानलेना जैसे भगवान् महावीरने कहा वह भी ठीकहै और कपिलादिका कथन भी ठीकहै ऐसी मन्दबुद्धि को विचिकित्सा अतिचार कहतेहैं।

(४-५) मिथ्यादृष्टि प्रशसा व स्तवना—जिसकी दृष्टि यथार्थ न हो उसकी प्रशसा या स्तवना करनी सम्यक्त्वदृष्टि के लिये अति चार रूप है क्योंकि ऐसे व्यक्तिकी प्रशसासे अविवेकी साधक

किसी समय अपने सिद्धान्तों से स्खलित हो जाता है. इस लिये अन्यदृष्टि प्रशंसा, स्तवना अतिचार रूप है और विवेक पूर्वक गुण दोषोंको समझनेवाले साधकके लिये वह एकान्त रूपसे हानि कारक नहीं है उपरोक्त पांचों अतिचार श्रावक और साधुके लिये सामान्य रूप हैं ॥ १८ ॥

बारह व्रत के अतिचारों की संख्या का वर्णन.

व्रती शीलषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ १९ ॥

बन्धवधच्छविच्छेदाऽतिभारारोपणाऽन्त पाननिरोधा ॥ २० ॥

मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यान कूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमंत्र भेदाः ॥ २१ ॥

स्तेन प्रयोग तदाहृता दानविरुद्धा राज्यातिक्रमहीनाधिक मानोन्मान प्रति रूपक व्यवहाराः ॥ २२ ॥

परविवाहकरणो त्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनाऽनंग क्रीडातीव्र कामाभि निवेशाः ॥ २३ ॥

क्षेत्रवास्तुहिरण्य सुवर्ण धन धान्य दासी दास कुप्य प्रमाणाऽतिक्रमा ॥ २४ ॥

उर्ध्वाधस्तियग् व्यतिक्रम क्षेत्र वृद्धि समृत्यन्तर्धानानि ॥ २५ ॥

आनयन प्रेष्य प्रयोगशब्द रूपानुपात पुद्गलक्षेपा ॥ २६ ॥

कंदर्प कौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणो प्रभोधिकत्वानि ।२७।

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ॥ २८ ॥

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेप संस्तारोपक्रमणानादर स्मृत्यनुपस्थापनानि ॥ २९ ॥

सचित सम्बन्ध समिश्राऽभिषवदुष्पक्वाहारा. ॥ ३० ॥

सचितनिक्षेपपिधान परव्यपदेशमात्सर्य कालाति क्रम. ॥ ३१ ॥

जीवित मरणाशसा मित्रानुराग सुखानुबन्ध निदान करणानि ।३२।

अर्थ—व्रत (अहिंसादि पाच) शील (दिगादि सातों) में यथा क्रम पाच पाच अतिचार होते हैं ॥ १९ ॥

बन्ध वध, छविच्छेद, अतिभारोपण, अन्नपाननिरोध ये पाच अहिंसाव्रतके अतिचार हैं ॥ २० ॥

मिथ्याउपदेश, रहस्याभ्याख्यान " गुप्तवात प्रगटकरना " कूट लेखक्रिया, न्यासापहार " धरोहरवस्तुकाअपहार " और साकार मन्त्र भेद ये पाच सत्यव्रत के अतिचार हैं ॥ २१ ॥

स्तेन प्रयोग " चोरों से व्यवहार ' तदाहृतादान "उनकी लाई हुई वस्तुग्रहण करनी ' विरुद्ध राज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रति रूपक व्यवहार 'कपट व्यवहार' ये पाच अस्तेय (अचौर्य) व्रतके अतिचार हैं ॥२२॥

परविवाह, इत्वरपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनग क्रीडा और तीव्रकामाभिनिवेश ये पाच ब्रह्मचर्य व्रत के अतिचार हैं ॥२३॥

क्षेत्र वस्तु (भूमि) (१) हिरण्य (सुवर्ण चान्दी) (२) धन धान्य (३) दास दासी (४) तथा कुप्यादि के परिमाण का अति क्रम करना परिग्रह व्रत के अतिचार हैं ॥ २४॥

ऊर्ध्व. अधो. तिर्यग् दिग व्यतिक्रम क्षेत्र वृद्धि और स्मृत्यन्तर ध्यान ये पांच दिग्व्रत के अतिचार हैं ॥२५॥

आनयन. पाप्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, पुद्गलक्षेप, ये पांच देशव्रत के अतिचार हैं ॥ २६ ॥

कंदर्प, कौकुच्य. मौखर्य, असमीक्षाधिकरण. और उपभोगाधिकत्व ये पांच अतिचार अनर्थ दंड विरमण व्रत के हैं ॥ २७ ॥

कायदुष्प्रणिधान. वागदुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये पांच सामायिक व्रत के अतिचार हैं ॥२८॥

अप्रतिवेक्षित तथा अप्रमार्जित स्थूल में उत्सर्ग (१) (उक्त) आदाननिक्षेप, (२) संस्तारोपक्रम (३) अनादर (४) और स्मृत्यनुपस्थान ये पांच पोषधोपवास व्रत के अतिचार हैं ॥ २९ ॥

सचित्ताहार, सचित्त सम्बन्धाहार, सचित्त अभिषवाहार, और दुष्पक्वाहार ये पांच उपभोग व्रत के अतिचार हैं ॥३०॥

सचित्त निक्षेप, सचित्तविधान, परव्यपदेश. मात्सर्य और कालातिक्रम ये पांच अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार हैं ॥३१॥

जीवितानुशंसा, मरणानुशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध, निन्दानकरण ये पांच संलेखना व्रत के अतिचार हैं ॥३२॥

विवेचन—जो नियम श्रद्धा और समझपूर्वक ग्रहण किये जाते हैं इन्हें व्रत कहते हैं। व्रत शब्द से ही श्रावक के बारह व्रतों का समावेश हो जाता है तथापि प्रस्तुत सूत्र में व्रत, शील, दो शब्दों का प्रयोग किया जिसका कारण यह है कि चारित्र धर्म के मुख्य नियम अहिंसादि पांच व्रत हैं व्रत कहलाते हैं और इनकी पुष्टि के लिये शेष दिगादि व्रत हैं उन्हें शील कहते हैं ये संज्ञा सूचक हैं और इनके पांच २ अतिचार बताये गये है वे मध्यम दृष्टि सापे

हैं जघन्योत्कृष्टरूप से वर्णन किया जाय तो उसकी व्याख्या न्यूनाधिक सख्या रूप भी बता सकते हैं।

राग द्वेष के विकार का अभाव और समभाव सद्भाव के आविर्भाव को चारित्र कहते हैं तथा चारित्र का मूल स्वरूप सिद्ध करने के लिये अहिंसादि जो जो नियम व्यावहारिक जीवन में स्वीकार किये जाते हैं वे सब चारित्र कहे जाते हैं व्यावहारिक जीवन देश काल आदि परिस्थिति या मनुष्य बुद्धि के संस्कारानुसार न्यूनाधिक रूप होने से चारित्र स्वरूप एक होने पर भी उसके नियम का तारतम्यभाव अनिवार्य है इसलिये श्रावक के भी अनेक भेद हैं तथापि शास्त्रकार तेरह विभाग की कल्पना करते हुए उनके अतिचारों का कथन करते हैं ॥ १९ ॥

अहिंसा व्रत के अतिचार।

(१) त्रस स्थावर जीवों का वध या (२) बंधन, (३) काष्ठादि से छेदन (४) अथवा जीवों पर अतिभार लादा (रक्खा) ना और उनके आहार पानी का निषेध करना ये पांच अतिचार अहिंसाव्रत के हैं ॥२०॥

सत्य व्रत के अतिचार।

(१) मिथ्या उपदेश—सच झूठ बात के पुरास्ते पर चढाना (२) रहस्याभ्याख्यान—राग द्वेष से प्रेरित होके हास्यादि द्वारा किसी की गुप्त बात को प्रगट कर देना (३) कूट लेख—मिथ्यालेख (जाली लिखा पढ़ी) (४) न्यासापहार—धरोहर (अमानत) रक्खी हुई वस्तु का अपहरण, (५) साकार मन्त्र भेद—चुगली या खोटी सलाह देके किसी की प्रीति को तुड़वा देना ये सत्य व्रत के अतिचार हैं ॥२१॥

अस्तेय (अचौर्य) व्रत के अतिचार।

(१) स्तेन प्रयोग—चोरी के लिये प्ररणा करनी या उनसे व्यव

हार करना (२) तदाहृतादान चोरी की लाई हुई वस्तु अल्प या ठीक मूल्य से लेनी (३) हिनाधिकमानोपमान—वस्तुकी लेन देन में हीनाधिक तोल नाप करना (४) विरुद्ध राजातिक्रम—राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना (५) प्रतिरूपक व्यवहार—खोटा सिक्का अथवा कपटपूर्वक नकली चीज़ बना के बदल देना ये अस्तेय व्रत के अतिचार हैं ॥ २२ ॥

ब्रह्मचर्य व्रत के अतिचार ।

(१) परविवाहकरण—दूसरे की शादी विवाह कन्यादानादि करना (२) इत्वरपरिगृहीता—व्यभिचारिणी या दूसरे की विवाहिता से प्रसंग करना (३) अपरगृहीता—कुंवारियों से या वेश्यादि से प्रसंग करना, (४) अनंगक्रीड़ा—अस्वाभाविक रीति से काम सेवन करना (५) तिव्रकामाभिसेवन—काम सेवन के लिये तीव्र अभिलाषा ये ब्रह्मचर्य व्रत के अतिचार हैं ॥ २३ ॥

अपरिग्रह व्रत के अतिचार ।

(१) क्षेत्रवस्तु—क्षेत्र जमीन खेतादि वस्तु घरादि के परिमाण से अधिक संग्रह करना, (२) हिरण्य सुवर्ण—सोने चांदी या वस्तुओं का परिमाण से अधिक संग्रह करना (३) धन—गाय भैंसादि, धान्य—अन्न आदि के परिमाण से अधिक संग्रह करना, (४) दास दासियों के परिमाण से अधिक रखना (५) कुप्यप्रमाणातिक्रम—वासन वर्तनादि को प्रमाण से अधिक रखना, ये परिग्रह व्रत के अतिचार हैं ॥ २४ ॥

दिग्विरमण व्रत के अतिचार ।

व्रत संज्ञक अहिंसादि पांच नियम व्रतों के अतिचारों की व्याख्या करके अब शील संज्ञक दिगादि व्रतों के अतिचार अनुक्रम से बताये हैं ।

(१) उर्ध्व-झाड पहाडादि पर चढने के लिये ऊचाई के परिमाण की मर्यादा विस्मृति या लाभादि के कारण उलघन करना, इसी तरह (२ ३) अधस्तिर्यग्व्यति—क्रम अर्थात् नीची और तिरछी दिशा के मर्यादा का उल्घन करना, (४) क्षेत्र वृद्धि—उत्तर पूर्वादि चारों दिशाओं की मर्यादा में से किसी एक दिशा की मर्यादा को घटा के दूसरे दिशा की मर्यादा में वृद्धि करना (५) स्मृत्यन्तरधानानि—कहा तक सीमा मर्यादित की गई थी उसकी स्मृति न रहना इत्यादि दिगविरमण व्रत के अतिचार हैं॥२५॥

देशावकाशिक व्रत के अतिचार।

(१) आनयन—नियत सीमा के बाहर की वस्तु को स्वयम् न लाकर किसी अन्य पुरुष द्वारा मगवा लेनी (२) प्रेष्य प्रयोग सीमा के बाहिर की वस्तु को प्रेष्य=नौकर द्वारा भेजवानी (३) शब्दानुपात—खासी आदि शब्द द्वारा कार्य करवाना, (४) रूपानु पात—रूपादि दिखा के कार्य करवा लेना (५) पुद्गल क्षेम—पत्थर, ढेलादि फेंक कर कार्य करवाना ये देशव्रत के अतिचार हैं॥ २६॥

अनर्थ दढ विरमण व्रत के अतिचार।

(१) कंदर्प—रागवश असभ्य भाषण या परिहासादि करना, (२) कौकुच्य—भाडादि के समान कुचेष्टायें करनी (३) मौखर्य निर्लज्यपने या बिना सम्बन्ध के अति प्रलाप करना (४) असमीक्ष्याधिकरण अपनी जरूरत से उपरान्त सावद्य उपकरणों को एकत्रित करना या बिना मागे किसी को देना (५) उपभोगाधिकत्व उपभोग से अधिक वस्तु रखना ये अनर्थ दढ व्रत के अतिचार हैं॥ २७॥

सामायिक व्रत के अतिचार।

(१) योग दुष्प्रणिधान—इसके तीन भेद हैं॥ कायदुप्प्र० विना काम हाथ पगादि संचालन करना (१) वागदुप्प्र०—सावद्य भाषा या उपयोग रहित बोलना (२) मनदुप्प्र० सावद्य या उपयोगरहित मनोव्यापार (३) अर्थात् जिस प्रकार सावधानी के साथ मन, वचन, कायिक योगों को सामायिक समय निर्वद्यपने वर्तना चाहिये वैसा न करके अनोपयोग वा सावद्य व्यापार को कायकादि दुःख प्रणिधान कहते है (४) अनादर=सामायिक उत्साह सहित न करके अन्यचित्त निरादरपने करना (५) स्मृति उपास्थानानि-सामायिक में आवश्यकीय कार्यों को भूल जाना ये सामायिक व्रत के दोष हैं॥ २८॥

पौपध व्रत के अतिचार।

अप्रत्तिवेक्षिता प्रमार्जित उत्सर्ग—विना देखे व प्रमार्जन किये मल मूत्रादि करना (२) एवं आदन निक्षेप—विना देखे प्रमार्जन किये किसी वस्तु को रखना (३) संस्तारोपक्रमण—विना देखे प्रमार्जन किये संथारा (बिछौना) आसनादि बिछाना (४-५) अनादर स्मृति०—पौपध अनादर से करना तथा आवश्यक क्रियाओं को भूल जाना या समयपरज करना ये पौपध व्रत के अतिचार हैं।

भोगोपभोग व्रत के अतिचार।

सचिताहार—अयोग्य वस्तु आहार करना, (२) सचित सम्बन्धाहार—अयोग्य से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु आहार करना (३) सचितसंमिश्राहार—सचित, अचित, मिश्रित पदार्थ का आहार करना (४) अभिपवाहार—मादक पदार्थों को सेवन

करना, (५) दुष्पक्काहार—अध पके या रधे पदार्थों को सेवन करना ये उपभोग व्रत के अतिचार है ॥३०॥

अतिथि सविभागव्रत के अतिचार

(१) सचित निक्षेप—देने योग्य वस्तु को न देने की बुद्धि से अयोग्य सचितादि वस्तु मिला देनी, (२) सचित पिधानम्—पूर्वोक्त वस्तुको सचितसे ढक देना, (३) परव्यपदेश—पूर्वोक्त वस्तुको दूसरे की कहदेना, (४) मत्सर्य—दानदेने, लेनेवालों के गुणोंसे ईर्ष्या करना, (५) कालातिक्रम—दान के समय का उलघन करना ये अतिथि सविभागव्रत के अतिचार है।

सलेखना व्रत के अतिचार

(१) जीवितानुशसा—पूजा सत्कारादि देख कर जीने की अभिलाषा करनी (२) मरणानुशसा—दुखादि देख कर मरने की अभिलाषा करनी, (३) मित्रानुराग—मित्र पुत्रादि पर प्रीति भाव रखना (४) सुखानुबन्ध—अनुभव किये हुये सुखो का स्मर्ण करना (५) निदान कारण—तपस्यादि करके भोगादि विषयों की आकाक्षा करनी ये सलेखना व्रत के अतिचार हैं।

उपरोक्त अतिचार यदि इरादेपूर्वक या वक्रता से सेवन किये जाय तो वे व्रत खडन रूप अनाचार हैं भूल या असावधानी से दूषित को अतिचार कहते हैं १९ ३२॥

दान का वर्णन।

अनुग्रहार्थं स्वस्याति सर्गो दानम् ॥३३॥

विधि द्रव्य दातृ पात्रविशेषात्तद्विशेष ॥३४॥

अर्थ—हित करने की इच्छा से अपनी वस्तु का त्याग करना दान कहलाता है ॥ ३३ ॥

विधि, द्रव्य, दातृ और पात्र इनकी विशेषता से दान की विशेषता होती है ॥ ३४ ॥

विवेचन—जीवन के सद्गुणों में सब से पहिला और अन्य सद्गुणों के विकास का आधार तथा पारमार्थिक दृष्टि में आदरणीय है।

न्यायोपार्जित वस्तु दूसरे को अर्पण करना ही दान है इससे स्व और पर को उपकार होना चाहिये अर्पण करने वाले को वस्तु पर से ममत्व भाव घटा के सन्तोष और समभाव प्राप्त होना है स्वीकार करने वाले का अभिप्राय केवल जीवन यात्रा निर्वाह करके चारित्र के सद्गुणों की अभिवृद्धि करना।

सब प्रकार का दान, दानरूप से एक ही है तथापि उसके फल में तारतम्य भाव रहा हुआ है और वह तारतम्य भाव दान की विशेषता पर अवलम्बित है सूत्रकार ने उसके मुख्य चार अंग बताये हैं यथा—

(१) विधिविशेष—देश, काल, श्रद्धा के उचितानुचित स्वरूप को देख कर लेने वाले के सिद्धान्त को अबाधित हो ऐसी कल्पनीय वस्तु अर्पण करना विधि विशेष है।

(२) द्रव्य विशेष—देय वस्तु योग्य गुणवाली होनी चाहिये जिससे लेने वाले पात्र की जीवनयात्रा में पोषक रूप होकर गुण-विकास को प्राप्त करने वाली हो।

(३) दाताकीविशेषता—दान को ग्रहण कर्ता पुरुष पर श्रद्धा होनी चाहिये उसके तरफ तिरस्कार या असूया (गुणों में दोष दृष्टि) न हो और त्याग के पश्चात् शोक तथा विषाद न हो आदर-पूर्वक दान देने की इच्छा करते हुये उससे प्रतियोग या किसी फल की कांक्षा न रखे।

(४) पात्र की विशेषता—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप संपन्न होना यह दान के योग्य (पात्र) की विशेषता है ॥३३-३४॥

इति तत्वार्थ सूत्र सप्तमाध्याय हिन्दी अनुवाद समाप्तम्

अष्टमोऽध्यायः

आश्रव का निरूपण कर चुके अब यथा क्रम (अ० १ सू० ४) बन्ध की व्याख्या सिद्ध करने के हेतु सूत्र निरूपण करते हैं।

बंध हेतु निर्देश।

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद कषाय योगबन्ध हेतवः ॥१॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद कषाय और योग बन्ध हेतु हैं १ ॥

विवेचन—बंध का स्वरूप आगे सूत्र २ से कहेंगे प्रस्तुत सूत्र में उनके हेतुवों का निर्देश है शास्त्रों में बन्ध हेतुवों की संख्या विषय तीन परम्परायें देखी जाती हैं एक परम्परा वाले, कषाय और योग दो ही बन्ध हेतु मानते हैं इसका उल्लेख पंचसंग्रह की मलया गीरी टीकादि ग्रन्थों में है। दूसरी परम्परा षडशितिचतुर्थ कर्म ग्रन्थ गाथा ५० और पंच संग्रह द्वा० ४ गा० १ आदि ग्रन्थकारों की है। वे मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग चार बन्ध हेतु मानते हैं और तीसरी परम्परा सूत्रकार की है जो मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग रूप पांच बन्ध हेतु माने हैं उपरोक्त मन्तव्य केवल नाम और संख्या मात्र से भिन्न स्वरूपी है वास्तविक तत्व दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो उन भेदों में कुछ भी अवा न्तर नहीं है, प्रमाद यह एक प्रकार का असंयम है जिसका अविरत या कषाय में अन्तरभाव होता है और ऐसी ही सूक्ष्म दृष्टि से

आगे और भी देखा जाय तो मिथ्यात्व और अविरत कषाय से पृथक् नहीं हो सकते वे वस्तुत कषाय ही के अन्तरगत हैं इसी अभिप्राय से पांचवें कर्मग्रन्थ की ९६ गाथा में दो ही (कषाय योग) बन्ध हेतु माने हैं और विस्तारपूर्वक समझने के लिये ग्रन्थकारों ने प्रत्येक कर्म के जुदे जुदे बन्ध हेतु बताये हैं जैसे पूर्व अध्याय ६ सूत्र ११ से २६ अथवा कर्म ग्रन्थ पहिला गाथा ५४ से ६१ आदि ग्रन्थों मे है।

कोई भी बांधा हुआ कर्म अधिक से अधिक चार (प्रकृत, स्थिति, रस, प्रदेश) अंशों में विभाजित होता है जिसका वर्णन वर्तमान अध्याय के सूत्र ४ में है और उनके कारण कषाय और योग दो ही कहे हैं यथा पंचम कर्म ग्रन्थ–

जोग पयड़ि पसस, ठिइअणुभाग कषायाओ ॥ ९६ ॥

अर्थ—प्रकृति और प्रदेश का निर्माण योग से होता है. और स्थिति तथा अनुभाग (रस) बन्धका कारण कषाय कहा है।

आध्यात्मिक विकासकी उन्नतावनत भूमिका रूप गुणस्थानों में वंधती हुई कर्म प्रकृतियों के तारतम्य भाव जानने के लिये उपरोक्त चार बन्ध हेतुवोंका वर्णन है। उक्त बन्ध हेतुवों की जिन गुणस्थानों में अधिकता होतीहै वहाँ कर्म प्रकृतियोंका बन्ध भी अधिक अधिकतर होता है. और बन्धहेतुकी अवनत दशा में कर्म प्रकृतियोंका बन्ध भी हीन हीनतर होता है. इसलिये उक्त मिथ्यात्वादि चारबन्ध हेतुकी परम्परावालोंका मंतव्य प्रत्येक गुणस्थानों में वंधती हुई प्रकृतियोंके सद्भावी कारणोंका पृथककरण है. और उक्त चारवधहेतुवोंका विश्लेष (समावेश) कषाय और योग में होता है. पांचबंधहेतु परम्परावालोंका आशय उक्त चार परम्परा वालोंसे पृथक नहीं होसकता और यदि पृथक किया जाय तो इस

का हेतु केवल जिज्ञासु शिष्यको विस्तार पूर्वक समझाना है

(१) मिथ्यात्व—सम्यक्त्व से विपरीत मिथ्यादर्शन को मिथ्यात्व कहते हैं यह दो प्रकार का है (१) वस्तु की यथार्थ श्रद्धा का अभाव (२) अयथार्थ वस्तुकी श्रद्धा, इन दोनों अवस्थाओं में विशेषता यह है कि पहली अवस्था विचार शून्य केवल जीव की मूढ दशा है और दूसरी विचारशक्ति की स्फुरायमान अवस्था है इस अवस्था में यदि अभिनिवेश (दुराग्रह) से अपने असत्य पक्ष को जानता हुआ भी उसकी स्थापना करने के लिये अतत्व का पक्षपात करे इसको मिथ्यादर्शन कहते हैं यह उपदेश जन्य होने से अभिग्रहीत कहलाता है और जिनमें गुणदोष या तत्वातत्व जानने की विचार शक्ति न हो उसको अभिग्रहीत मिथ्यात्व कहते हैं यह अनभिग्रहीत मिथ्यात्व कीट, पतगादि के समान मूर्छित चेतनावाली जातियों में सभवित होता है और अभिग्रहीत मिथ्यात्व मनुष्य के समान विकसित जातियों में होता है

(२) अविरति—दोषों से विराम न होना। यथा अध्याय ७ सूत्र १।

(३) प्रमाद—आत्म विस्मरण या अच्छे कार्यों में अनादर, कतव्याकर्तव्य के लिये असावधान।

(४) कषाय—समभावकी मर्यादा का उलघन [विशेष वर्णन] अध्याय ८ सूत्र १० में है

(५) योग—मानसिक, वाचिक, कायिक, प्रवृत्ति। यथा अध्याय ६ सूत्र १ से ५।

छट्ठे अध्याय में वर्णन किये हुवे बन्धहेतुओं में और प्रस्तुत बंध हेतुओं में विशेषता यह है कि वे प्रत्येक कर्मके विशेषतारूप मुख्य बन्धहेतु हैं। पूर्ववर्ती बंधहेतुओं के अस्तित्वमें उत्तरवर्ती बंधहेतु

अवश्य होते हैं. जैसे—मिथ्यात्वके रहते हुवे शेष अविरत्यादि चारोंकी अस्तिता अवश्यमेव होती है. और अविरतके रहने पर प्रमादादि तीनों बन्धहेतु अवश्य होते हैं. परन्तु मिथ्यात्वकी नियमा नहीं है क्योंकि मिथ्यात्व केवल पहिले गुणस्थानकमें ही अविरत के साथ रहता है. परन्तु द्वितियादि चार गुणस्थानों में उसका अभाव है. इसी तरह उत्तर वर्ती बन्धहेतुवों के साथ पूर्व वर्ती बंध हेतुओं की नियमा नहीं है. वे मिथ्यात्वादिकी अस्तितामें होते हैं अन्यथा नहीं होते. यथा चतुर्थ कर्म ग्रन्थ—

इग चउपणति गुणेसु, चउतिदुइगपच्च ओ वन्धो ॥ ५२ ॥

अर्थ—एक मिथ्यात्वगु० में चारों बंधहेतु होते हैं सास्वादनसे देश वरति पर्यन्त चार गु० में तीन बंधहेतु होते हैं छट्ठे से दशवें तक पाँच गु० दो बन्धहेतु हैं और ग्यारहवें से तेरहवें गु० पर्यन्त एकवन्धहेतु है।

वन्ध स्वरूप।

सकायत्वाज्जीवाः कर्मणोयोग्यान् पुद्गलानादत्ते ॥ २ ॥
सबन्धः ॥ ३ ॥

अर्थ—कषाय सहित होने से जीव कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है ॥ २ ॥ उसीको वन्ध कहते हैं ॥ ३ ॥

विवेचन—पुद्गल की वर्गणायें अनेक प्रकार की अनन्तानन्त रूप हैं उसमें से जो वर्गणा कर्म परिणाम योग्यतावाली है उसीको जीव ग्रहण करके अपने प्रदेशों के साथ विशिष्ट रूप जोड़ता है जिसका विशेष रूप से वर्णन आगे सूत्र २५ में है।

जीव स्वभाव से अमूर्त है तथापि अनादि कालिक कर्म सवन्ध कर्म सहचारी होने के कारण वह मूर्तिमान दिखाई देता है और मैं पुद्गलों को ग्रहण करता है जैसे—दीपक बत्ती द्वारा तेल ग्रहण के अपनी उष्णता से ज्वाला रूप में परिणमन होता है। इसी ह जीव कषायिक विकारों से कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके व कर्म रूप से परिणमन करता है और आत्म प्रदेशों के साथ में पुद्गलों का सम्बन्ध ही बन्ध कहलाता है। बन्ध के लिये थ्यात्वादि अनेक निमित्त हैं तथापि उसमें कषाय की प्रधानता चित करने के लिये ही "सकषायत्वात् जीव" इत्यादि कहा है कर्मी जीव शरीरार्थ जो पुद्गल ग्रहण करता है उसी को धि कहते हैं ॥ २-३ ॥

बन्ध के भेद

प्रकृति स्थित्यनुभाव प्रदेशास्तद्विधय: ॥ ४ ॥

अर्थ—कर्म बन्ध चार प्रकार से होता है, (१) प्रकृति (२) र्थति, (३) अनुभव, (रस) (४) प्रदेश।

विवेचन—जीव द्वारा ग्रहण किये हुवे कर्म पुद्गल कर्म रूप परि ाम को प्राप्त होते समय वे चारों अशों में विभाजित होते हैं मी अशों को बन्धभेद कहते हैं जैसे-गाय, भैंस, बकरी, आदि ा खाया हुवा घास रक्त, मेधा, मांस, दूधादि रूप में परिणमन ोता है इसी तरह जीव द्वारा ग्रहण किये हुवे कर्म पुद्गल आठ कर्म कृति रूप में परिणत होते हैं, उनको प्रकृति बंध कहते हैं, यह ध नियमित समय तक अपने स्वभाव में रहता है उस काल म ादा को स्थिति बन्ध **कहते हैं**, और दूधकी मधुरता में जो तीव्रता

मन्दता रहती है उसको अनुभाग वन्ध अर्थात् रस वन्ध कहते हैं. और तत् योग्य पुद्गलों के परिमाण का निर्माण भी उसी समय होता है. उसको प्रदेश वन्ध कहते हैं. इसी को कर्म ग्रन्थ में मोदक के दृष्टान्त से समझाया है।

प्रकृति वन्ध का स्वरूप

अद्यो[1] ज्ञान[1] दर्शनावरण[2] वेदनीय[3] मोहनीयायुष्कनाम[4,5,6] गोत्रा[7]-न्तरायाः[8] ॥ ५ ॥

अर्थ—उपरोक्त सूत्र ४ से अनुक्रम से प्राप्त आद्य अर्थात् पहिला प्रकृति वन्ध आठ प्रकार का है (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय. (५) आयुष्य. (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अन्तराय ॥ ५ ॥

विवेचन—अध्यवसाय विशेष से जीव द्वारा एक ही वार एक समय में ग्रहण किये हुवे कर्म पुद्गल हैं वे अध्यवसायिक शक्ति की विविधता के कारण अनेक प्रकार से परिणमन होता है. जैसे-एक ही वार एक प्रकार का किया हुआ भोजन शरीर में सातों धातु रूप से परिणमन होता है वे कर्म स्वभावतः अदृश्य रूप हैं तथापि संसारी जीवों पर उसकी विचित्रता प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध ही है. एक अध्यवसाय से एक समय में वन्धे हुवे कर्म वास्तविक रूपसे असंख्याते हैं परन्तु कार्य क्रमकी परिगणना मात्रसे उनका वर्गीकरण आठ विभागों में विभाजित किया गया है, उसीको प्रकृति वन्ध कहते हैं. (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्क, (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अन्तराय. ॥ ५ ॥

कर्म अनेक स्वभावी है. तथापि संक्षेप दृष्टि से उनके आठ

विभाग करके बताये गये हैं मध्य मार्गगति विस्तृत रुचि जिज्ञासुओं के लिये उन आठ प्रकृतियों के भेदों की संख्या तथा नाम निर्देश आगे के सूत्र से करते हैं जो उत्तर प्रकृति के नाम से प्रसिद्ध है और पहिले (कर्म विपाक नामक) कर्म ग्रन्थमें इन उत्तर प्रकृतियों के स्वरूप का सविस्तार वर्णन है।

उत्तर प्रकृतियो की भेद संख्या तथा नाम निर्देश

पञ्च नवद्वयष्टाविंशति चतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्च भेदा यथाक्रमम् ॥६॥

मत्यादिनाम् ॥७॥

प्रचला प्रचला प्रचला सत्यानगृद्धि वेदनीयानिच ॥८॥

सदसद्वेद्ये ॥९॥

दर्शन चारित्र मोहनीय कषाय नोकषाय वेदनीयाख्यास्त्रि द्विषोडश नव भेदा सम्यक्त्व मिथ्यात्व तदुभयानि कषाय नो कषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान प्रत्यख्यानावरण सज्वल विकल्पाश्चैकश. क्रोध मान माया लोभाः हास्यरत्यरति शोक भय । जुगुप्सा स्त्रीपुनपुंनसक वेदाः ॥१०॥

नारक तैर्यग्योनमानुप देवानि ॥११॥

जाति जाति शरीरांगोपाग निर्माण बन्धन संगतमस्थान संहनत स्पर्शरस गन्ध वर्णानुपूर्व्यगुरुलघु पघात पराघाततपो श्वास विहायोगतव' प्रत्येक शरीर त्रस सुभाग सु स्वर शुभ

सूक्ष्म पर्याप्त स्थिरा देय यशांसि सेतराणि तिर्थकृत्व च ॥१२॥

उच्चैर्नीचैश्च ॥१३॥

दाना दीनाम ॥१४॥

अर्थ—उपरोक्त आठ प्रकृतियों का अनुक्रम से पांच, नव, दो अठावीस, चार व्यालीस, दो और पांच भेद हैं ॥ ६ ॥

मत्यादि पांच आवरण ज्ञानावर्णी कर्म के हैं ॥७॥

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन, निद्रा निद्रा निद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यान गृद्धि एवं नौप्रकृति दर्शना वरणीय है ॥८॥

प्रशस्त = सातावेदनीय, अप्रशस्त = असाता वेदनीय एवं वेदनीय कर्म के दो भेद हैं ॥६॥

मोहनीयकर्म के मुख्य दो भेद हैं (१)दर्शन मोहनीय,(२)चारित्र मोहनीय दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं। (१) सम्यक्त्वमोहनीय, (२) मिथ्यात्व मोहनीय. (३) मिश्र मोहनीय। चारित्र मोहनीय के मुख्य दो भेद (१) कषाय मोहनीय, (२) नोकषाय मोहनीय। कषाय मोहनीय के १६ भेद। (४) अनन्तानुवन्धि १क्रोध, २मान, ३माया, ४लोभ, (४) अप्रत्याख्यानी ५क्रोध, ६मान, ७माया ८लोभ (४) प्रत्याख्यानी ९क्रोध, १०मान, ११माया, १२लोभ (४) संज्वलन १३क्रोध, १४मान, १५माया १६लोभ, नो कषाय मोहनीय के नौ भेद (१) हास्य, (२) रति। (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा, (७) स्त्री, (८) पुरुष, (९) नपुंसकवेद एवं दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय मिल के २८ भेद मोहनीय कर्म के हैं ॥१०॥

नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, और देव ये चार आयुष्य कर्म के भेद हैं ॥११॥

१गति, २जाति, ३शरीर, ४अगोपाग, ५निर्माण, ६बधन, ७ सघातन, ८सस्थान, ९सहनन, १०स्पर्श, ११रस, १२गध, १३वर्ण, १४आनुपूर्वी, १५अगरूलघु, १६उपघात, १७पराघात १८आताप १९ उद्योत, २०उच्छ्वास, २१विहायोगति, २२प्रत्येक, २३त्रस २४सुभाग, २५सुस्वर, २६शुभ, २७बादर, २८पर्याप्त, २९स्थिर, ३०आदेय, ३१यश, और इतर ३२साधारण, ३३स्थावर, ३४दु भाग, ३५दु स्वर, ३६अशुभ, ३७सूक्ष्म, ३८अपर्याप्त, ३९अस्थिर, ४०अना देय, ४१अयश, और ४२ तीर्थंकरनाम ये नामकर्म के भेद हैं ॥१४॥

गौत्र कर्म के दो भेद हैं ऊच गौत्र और नीच गौत्र ॥१३॥

अन्तराय कम के पाच भेद हैं (१) दान अन्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्त०, (४) उपभोगान्त०, (५) वीर्य अन्तराय।

विवेचन—उपरोक्त सूत्र ५ में ज्ञानावर्णीयादिमूल आठ कर्म प्रकृति बताई गई है उनके उत्तर प्रकृतियों की सख्या अनुक्रम से यह है ज्ञानावर्णीय के पाच भेद, दर्शनावर्णीय के नौ भेद, वेदनीय के दो भेद, मोहनीय के अट्ठावीस भेद, आयुष्य के चार भेद, नाम के ब्यालीस भेद, गौत्रके दो भेद, और अन्तराय कर्म के पाच भेद हैं ॥ ६ ॥

ज्ञानावर्णीय के पांच भेद।

प्रत्येक ज्ञान के आवरण=आच्छदन करने का जो स्वभाव उसको ज्ञानावर्णीय कर्म कहते हैं उनके स्थूल दृष्टि मे मुख्य पाच भेद बताये हैं (१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण, (४) मन पर्यायज्ञानावरण, (५) केवलज्ञाना वरण, और पहिले कम ग्रन्थ में गाथा ४ से ९ तक इनके उत्तर भेदों का सविस्तार वर्णन है ॥

दर्शनावर्णीय कर्म के भेद

चक्षादि सामान्यावबोध (दर्शन) के आच्छन करने का जिसमें अभाव हो उसको दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं उसके नौ भेद हैं (१) चक्षुदर्शनावरण. (२) अचक्षुदर्शनावरण, (३) अवधि दर्शनावरण (४) केवल दर्शनावरण, इनके दर्शन को सामान्य उपयोग भी कहते हैं और पांच प्रकार की निद्रा भी दर्शनावरणीय कर्म है (१) सुखपूर्वक निद्रा आजाय और जाग उठे उसको निद्रा कहते हैं (२) सुख से निद्रा आजाय और मुस्किल से हो जागे उसे निद्रा कहते हैं (३) बैठे और खड़े नींद ले उसको प्रचला कहते हैं। (४) चलते हुये नींद ले उसको प्रचला प्रचला कहते हैं (५) जागृत अवस्था में विचारा हुआ कार्य निद्रावस्था में करे उसको स्त्यगृद्धि निद्रा कहते हैं इस अवस्था में स्वाभाविक बल की अपेक्षा अनेक गुण बल प्रगट होता है।

वेदनीय कर्म के भेद।

सुख और दुःख के अनुभव को अनुक्रम से साता और असाता वेदनीय कहते हैं।

मोहनीय कर्म के भेद।

मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं। (१) दर्शन मोहनीय. (२) चारित्र मोहनीय।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद—(१) सम्यकत्व मोहनीय जिसके उदय से तात्विक रुचि होते हुये भी क्षायिक सम्यक्त्व और औपशमिक वा क्षायिकश्रेणी गत भावों की रुकावट होती हो उसको सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं। (२) मिथ्यात्व मोहनीय—यथार्थ

स्वरूप के अभाव को मिथ्यात्व मोहनीय कहते ह (३) मिश्रत मोहनीय—मिश्र भाव को मिश्र मोहनीय कहते ह।

चारित्र मोहनीय के दो भेद—(१) कषाय मोहनीय (२) नौ कषाय मोहनीय।

कषाय के मुख्य चार भेद क्रोध, मान, माया, और लोभ, ये तीव्रता और मन्दता रूप तारतम्य दृष्टि से अनेक प्रकार होते हुये भी सुखावबोध के लिये मुख्यतया प्रत्येक के चार चार भेद करके समझाते हैं। (१) अनन्तानुबन्धि—जिससे क्रोधादि अति तीव्र पने प्रगट हो और ससार चक्र में अनन्तकाल भ्रमण होता रहता है उसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, अन० मान, अन० माया और अ० लोभ कहते ह (२) अप्रत्याख्यानी—इसकी मात्रा अनन्तानुबन्धी के समान अति तीव्र नहीं होती इसका आविर्भाव हिंसादि विरती का प्रतिबन्धक है अर्थात् जिसके उदय से सम्यक् दर्शन का लाभ होते हुये भी विरति का अभाव हो उसको अप्रत्याख्यानी क्रोध अप्र०मान अप्र० माया और अप्र० लोभ कहते हैं। (३) प्रत्याख्यानी देश विरति को न रोक कर केवल सर्व विरति का प्रतिघातक हो उसको प्रत्याख्यानी क्रोध, प्रत्या० मान, प्रत्या० माया, और प्रत्या० लोभ कहते है, (४) सज्वल—यह सर्व विरति चारित्र का प्रतिबन्धक नहीं है तथापि किंचित् मलीन भाव रहता हो उसको सज्वल क्रोध सज्वल मान, सज्वल माया, और सज्वल लोभ कहते हैं इसके उदय से यथा ख्यात चारित्र की प्राप्ति नहीं होती। इन सोलह कषायों का स्वरूप पहले कर्म ग्रन्थ में दृष्टान्तपूर्वक समझाया गया है। और तत्वार्थ भाष्य में भी सविस्तार वर्णन है।

नव नोकषाय—(१) हास्य, (२) रति=प्रीति (३) अरति= अप्रीति (४) भय, (५) शोक (६) जुगुप्सा=घृणा (७) स्त्री

उपरोक्त ४२ और उसके अवान्तर भेदों सहित नाम कर्म की १०३ प्रकृतियों का सविस्तार वर्णन पहले कर्म ग्रन्थ में है और वहां हरएक प्रकृति का स्वभाव स्पष्ट रूप से वर्णन किया है।

गौत्र कर्म के भेद।

देश, जाति, कुल, स्थान, मान, सत्कार, ऐश्वर्यादि की प्रकर्षता "उच्चता' के साधक को उच्च गौत्र और इससे विपरीत को नीच गौत्र कहते हैं।

अन्तराय कर्म के भेद।

वस्तु की प्राप्ति मे भी उपभोग न कर सके वा इच्छित वस्तु प्राप्त न हो उसको अन्तराय कर्म कहते हैं वह पांच प्रकार है यथा दानान्तराय, भोगान्त० उपभोगान्त० वीर्यान्त० और लाभान्तराय

उपरोक्त प्रकृतियों के बन्ध को प्रकृति बन्ध कहते हैं इसको कर्म ग्रन्थ में अनेक प्रकार समझाया है पहिले कर्म ग्रन्थ मे प्रकृतियों का स्वरूप और दूसरे, तीसरे, चौथे कर्म ग्रन्थ में मुख्यतया प्रकृति बन्ध का ही वर्णन है पांचवे कर्म ग्रन्थ मे भी ध्रुव बन्ध्यादि तथा भूयस्कारादि रूप से समझाया है भूयस्कारादि स्वरूप यथा पंचम कर्म ग्रन्थ गाथा २३

एगादहिये भूयो एगाह ऊणगमि अप्पतरो।
तम्मतोऽवट्ठियओ पढमे समए अवतव्वो ॥२३॥

एक आदि प्रकृति का अधिक बन्ध भूयस्कार कहलाता है वैसे ही तीन बन्ध को अल्पतर कहते है समको अवस्थित कहते हैं और अबन्धक होके फिर से बांधे वह प्रथम समय अवक्तव्य बन्

है जैसे = गाथा २२।

मूल आठ प्रकृतियों के बन्ध स्थान ४ हैं ८७६१ के तीन भूयस्कार होते हैं अवक्तव्य बन्ध नहीं है विशेष जिज्ञासुओं को उक्त ग्रन्थ की टीका या भाषान्तर देखना चाहिये वहां उत्तर प्रकृतियों सहित सविस्तार वर्णन है।

स्थिति बन्ध का वर्णन।

आदितस्ति सृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम कोटी कोट्या: परा स्थिति: ॥१५॥

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१६॥

नाम गौत्रयोर्विंशतिः ॥१७॥

त्रयस्त्रिं शत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य ॥१८॥

अपराद्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१९॥

नाम गोत्रयारष्टौ ॥२०॥

शेषाणामन्तमुहूर्तम् ॥२१॥

अर्थ—प्रथम की तीन "ज्ञाना० दर्शना० वेदनीय" और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटा कोटि सागरोपम की है॥ १५॥

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सित्तर कोटा कोटि सागरोपम की है॥ १६॥

नाम, गौत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति वीस कोटा कोटि सागरोपम की है॥ १७॥

आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की है॥ १८॥

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की है॥ १९॥

नाम. गौत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है ॥ २० ॥

शेष पांच कर्मों "ज्ञाना० दर्शना० अन्तराय० मोहनीय० आयुष्य" की जघन्य स्थिति अन्तर मुहूर्त की है ॥ २१ ॥

विवेचन—मूल प्रकृतियों का जो उत्कृष्ट स्थिति वन्ध वताया है उसके अधिकारी :मिथ्या दृष्टि संज्ञी पंचेंद्रिय ही कहे हैं तथापि पांचवे कर्म ग्रन्थ में उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति वन्ध और उनके अधिकारी वताये हैं ॥

अविरय सम्मोतित्थं आहार दुगामराउ य पमत्ते ।
मिच्छा दिट्ठी वन्धइ जिट्ठठिइ सेस पयडीणं ॥ ४२ ॥

अर्थ—जिन नाम कर्म का उत्कृष्ट स्थिति वन्ध अविरति सम्यग् दृष्टि तथा आहारक द्विक और देवायु का प्रमत्त संयत. शेष ११६ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति वन्ध मिथ्यात्वी को होता है यह सामान्यापेक्षा गुणस्थानक विषयी है ।

सूत्रार्थ मे मूल ८ कर्मों की ३०-७०-२० कोड़ा कोड़ी सागरोपम की उ० स्थिति वताई है परन्तु उत्तर प्रकृतियों का स्थिति वन्ध ज्ञानाव० ५, दर्शनाव० ६ अन्तरायकी ५ को छोड़ के शेष उत्तर प्रकृतियों का स्थिति वन्ध भिन्न भिन्न है कर्म प्रकृति ग्रन्थ में स्थिति वन्धाधिकार ८ द्वारों सहित (गाथा ६८ से) बहुत विस्तार पूर्वक समझाया है । पांचवे कर्म ग्रन्थ में (गाथा २६ से) इसी विषय का संक्षेप से वर्णन है । जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति वन्ध के अधिकारी गुण स्थानक और गति की अपेक्षा कौन कौन और कैसी अवस्था में उन प्रकृतियों का वन्ध करते हैं उसको समझाया है विशेष जिज्ञासुवों को उक्त ग्रन्थ देखने चाहिये ।

मूल सूत्र कारने वेदनी कर्म की जघन्य स्थिति वारह मुहूर्त की कही है वह सकषाई की अपेक्षा समझनी चाहिये यथा—

मुतु अकपाय ठिइ चार सुहुत्त वे अणिग
कर्म ग्रन्थ गाथा ॥ २७ ॥
कषायिक परिणामों की तारतम्यता की अपेक्षा मध्यम स्थिति असंख्यात प्रकार की है।

अनुभाग बन्ध वर्णन

विपाकोऽनुभावः ॥ २२ ॥

स यथानाम ॥ २३ ॥

ततश्चनिर्जरा ॥ २४ ॥

अर्थ—कर्म के विपाक "फल" को अनुभाव बन्ध (रस बन्ध) कहते हैं। २२ ॥

वह (अनुभाग बन्ध) कर्म प्रकृतियों के स्वभावानुसार वेदा जाता है ॥ २३ ॥

उन वेद ' भोगे ' हुवे कर्मों की निर्जरा होती है ॥ २४ ॥

विवेचन—प्रकृति बन्ध होते समय ही उसके कारण भूत कषायिक परिणामों की तिव्रता मन्दता के अनुसार उन प्रकृतियों में तिव्रता मन्दता रूप फल देने की शक्ति प्राप्त होती है उसको अनुभाव या अनुभाग कहते हैं और उसके निर्माण को अनुभाग बन्ध कहते हैं इसको कर्म प्रकृति ग्रन्थ में अविभाग, वर्गणा, स्पर्धकादि १४ द्वार करके बहुत विस्तार पूर्वक समझाया है और पांचवें कर्म ग्रन्थ में भी इसका संक्षेप स्वरूप है (गाथा ६१ से ७४)

स्थिति बन्ध की परिपक्व अवस्था होनेपर अनुभाग बन्ध फल प्रद होता है यही भी स्वकर्म लिए (अपने ही कर्म का) जैसे-ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाग (रस) अपने स्वभाव पने तीव्र या मंद रूप से ज्ञान को ही आवृत करने वाला होता है परन्तु अन्य कर्म (दर्शनाव० वेदना आदि) फल स्वभाव को

प्राप्त नहीं होता इसी तरह दर्शनावरणीय कर्म का अनुभाग द-र्शनावरणीय कर्म का अनुभाग दर्शन शक्ति कोही तीव्र या मंद पने आच्छादित करता है परन्तु अन्य ज्ञानादि कर्म प्रकृतियों को आच्छादित नहीं करता यह नियम मूल प्रकृतियों के लिये है उत्तर प्रकृति अध्यवसाय के बल से स्वजातीय रूप में बदल जाती है और वह अपने स्वभाव के अनुसार तीव्र, मंद फल देती है जैसे मति ज्ञानावरणीय कर्म का श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म में संक्रमण होता है तब वह श्रुत ज्ञानावरणीय अनुभाग (रस) वाली हो जाती है परन्तु उत्तर प्रकृतियों में भी कितनीक ऐसी प्रकृतियां हैं जिन का स्वजातीय में संक्रमण नहीं होता जैसे-दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय का परस्पर संक्रमण नहीं होता इसी तरह आयुष्य कर्म की उत्तर प्रकृतियों का संक्रमण एक दूसरे में नहीं होता यथा—

मोह दुगाउगमूल पगडीण ना परोप्परं मि संक मण ॥

(कम्मपयडी संक्रमणाधिकार) गाथा-३

संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तनादि अधिकार कर्म प्रकृति ग्रन्थ के टीकाकी गुजराती व्याख्या में सविस्तार समझाया है।

अशुभ, और शुभ प्रकृति का तीव्ररस अनुक्रम से संक्लेस और विशुद्ध परिणामों से होता है और मंद रस इनसे विपरीत पने होता है।

अनुभाग से वेदाये हुए कर्म आत्म प्रदेशों से प्रथक होते हैं उनका आत्मा के साथ संलग्न नहीं रहता उसी कर्म निवृति को निर्जरा कहते है, कर्मों की निर्जरा जैसे कर्म फल वेदने [भोगने] से होती है वैसे तपोबल से भी होती है और वे कर्म आत्म प्रदेशों

से अलग हो जाते हैं सूत्र में 'च' शब्द है यह यही बात सूचित करता है इसका स्वरूप आगे अध्याय १० सूत्र ३ से कहेंगे।

प्रदेश बन्ध वर्णन

नामप्रत्यया सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैक—
क्षेत्रावगाढ स्थिता सर्व आत्म प्रदेशेष्वान- -
न्ता नन्त प्रदेश' ॥ २५ ॥

अर्थ—बध्यमान कर्म के कारण भूत कर्म पुद्गलों का सर्व प्रकार के योग विशेष द्वारा सूक्ष्म रूप से रहे हुवे एक प्रदेश क्षेत्रावगाही अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध को सब आत्म प्रदेशों से सब आत्म प्रदेशों में बन्ध होता है ॥ २४ ॥

विवेचन—आत्मा के साथ कर्म स्कन्ध योग्य पुद्गल प्रदेशों के संबन्ध को प्रदेश बन्ध कहते हैं इस विषय में आठ प्रश्न उत्पन्न होते हैं उसी को प्रस्तुत सूत्र से समझाते हैं।

(१) प्रश्न—कर्मस्कन्धों के बन्ध से क्या निर्माण होता है?

उत्तर—आत्म प्रदेशों के साथ बन्धे हुवे पुद्गल स्कन्ध कर्म भाव अर्थात्—ज्ञानावरणादि प्रकृति रूप से परिणत होते हैं याने उनसे कर्म प्रकृतियों का निर्माण होता है इसलिये वे कर्म प्रकृतिके कारण भूत हैं।

(२) प्रश्न—वे स्कन्ध ऊर्ध्व नीची तिरछी दिशाओं में रहे हुवे ऊर्ध्व, नीची, तिरछी दिशा के आत्म प्रदेशों से ग्रहण होते हैं?

उत्तर—जिस दिशी के रहे हुवे पुद्गल स्कन्ध उसी दिशी के आत्म प्रदेशों से ग्रहण होते हैं।

(३) प्रश्न—सब जीवों के कर्म बन्ध समान रूप है या असमान?

उत्तर—सब संसारी जीवों का कर्म बन्ध एक समान नहीं होता इसका कारण यह है कि उनके मानसिक, वाचिक, कायिक योग=व्यापार एक सदृश नहीं है योगों की तारतम्यता के अनुसार कर्म बन्ध प्रदेशों में तारतम्य भाव रहता है।

[४] प्रश्न—वे कर्म स्कन्ध सूक्ष्म हैं ? या स्थूल ?

उत्तर—कर्म योग्य पुद्गलस्कन्ध स्थूल—बादर नहीं होते किन्तु सुक्ष्म भाव में रहते हैं और वेही कर्म वर्गणा योग्य हैं।

(५) प्रश्न—जीव प्रदेश क्षेत्र में रहे हुये कर्म स्कन्धों का जीव प्रदेशों के साथ बन्ध होता है या अन्य क्षेत्र में रहे हुवे स्कन्धों के साथ ?

उत्तर—जीवप्रदेशावगाढ़ कर्म स्कन्धों के सिवाय अन्य प्रदेशान्तर रहे हुवे स्कन्ध अग्राह्य हैं।

[६] प्रश्न—गति शील कर्म स्कन्धों का बन्ध होता है ? या स्थिति शील ?

उत्तर—स्थिर कर्म स्कन्धों का बन्ध होता है गति शील स्कन्ध अस्थिर होने से उसका बन्ध नहीं होता।

[७] प्रश्न—उन कर्म स्कन्धों का बन्ध सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों के साथ होता है या न्यूनाधिक आत्म प्रदेशों के साथ ?

उत्तर—समस्त आत्म प्रदेशों के साथ बन्ध होता है।

(८) प्रश्न—कर्म स्कन्धों के प्रदेश संख्याते असंख्याते वा० अनन्ते होते हैं ?

उत्तर—कर्म योग्य स्कन्ध के पुद्गल "परमाणु" नियमा अनन्तानन्त प्रदेशी होते हैं संख्यात, असंख्यात वा अनन्त परमाणुवों से बने हुवे स्कन्ध अग्राह्य है। यही स्वरूप पांचवें कर्म ग्रन्थ की ७८-७९ गाथा में है यथाः—

अतिम चउकाम दुगध पच वन्नरस कम्म खध दल।
सव्वजि अणत गुणरस अणुजुत मणतय पएसं ॥ ७८ ॥
एक पएसो गाढ निअसव पएसओ गेहइ जिओ ॥

और वहा यह भी बताया है कि बन्ध मान स्कन्धों के कर्मदल का विभाग कौनसी कर्म प्रकृति को कितना मिलता है ॥ २५ ॥

पुण्य और पाप प्रकृतियों का विभाग।

सद्वेद्य सम्यक्त्व हास्यरति पुरुषवेद शुभायुर्ना—
मगोत्राणि पुण्यम ॥ २६ ॥

अर्थ—सातावेदनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद, शुभायुष्य, शुभ नाम, शुभ गोत्र ये पुण्य रूप हैं शेष प्रकृतिया पाप रूप हैं। ॥ २६ ॥

विवेचन—बन्धमान कर्म के विपाकों की शुभाशुभता अध्यवसायों पर निर्भर है शुभ अध्यवसाय का विपाक भी शुभ "इष्ट" होता है और अशुभ अध्यवसाय का विपाक भी अशुभ "अनिष्ट" होता है। परिणामों में सक्लेश की मात्रा जितनी न्यूनाधिक होगी उतने ही परिणाम से शुभाशुभ की विशेषता रहेगी शुभ और अशुभ दोनों प्रकृतियों का बन्ध एक साथ एक समय होता है परिणामों की ऐसी धार नहीं है कि मात्र शुभ या अशुभ एक ही प्रकार की प्रकृतियों का बन्ध होता है। उभय प्रकृतियों का एक पर साथ बन्ध होते हुवे भी व्यवहारिक प्रवृति में जो शुभत्व अशुभत्व की भावना मानी जाती है यह केवल व्यवहारिक प्रवृति की मुख्यता, गौणता पर है जिस शुभ परिणाम से पुण्य प्रकृतियों का शुभ अनुभाग (रस) बन्धता है उसी परिणाम से पाप प्रकृ

नियों का अशुभ अनुभाग (रस) भी बन्धता है और जिस समय अशुभ परिणाम से पाप प्रकृतियों का अशुभ अनुभाग बंधता है उसी समय उस परिणाम से पुण्य प्रकृति का शुभ अनुभाग बन्ध भी होता है तथापि शुभ परिणामों की प्रकृष्टता के समय शुभ अनुभाग की प्रकृष्टता रहती है और अशुभ अनुभाग निकृष्ट होता है इसी तरह अशुभपरिणामों की प्रकृष्टता में अशुभ अनुभाग की प्रकृष्टता और शुभ की निकृष्टता रहती है।

सूत्रोक्त आठ प्रकारसे पुण्य प्रकृतियां बताई हैं वे मूल पांच कर्मों की हैं (१) सातावेदनीय, (वेदनी कर्म की). (२) सम्यक्त्व, ३ हास्य, ४ रति, ५ पुरुषवेद ये मोहनीय कर्म के दर्शन मोह० चारित्रमोह० की प्रकृतियां हैं (३) शुभायुष्य (आयुष्य कर्म की) (४) ७ शुभ नाम (नाम कर्म की प्रकृति) (५) शुभ गोत्र (गोत्र कर्म की प्रकृति है शेष रहे हुवे पाप प्रकृतियां हैं।

सूत्र कारने वेदनी और मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृति बात के शेष नाम, गौत्र, आयुष्य शुभ कहके छोड़ दिया उनकी उत्तर प्रकृतियां नहीं बताई पांचवें कर्म ग्रन्थ में ४२ प्रकृति पुण्य और ८२ प्रकृतियां पाप कही हैं।

२ ३ १ १ १० ५ २ १ १
सुरनर, तीगुच्च, साय तसदस तणुवग वइर चउरंसं ॥
७ १ ४ १० १
परघासग तिरिआउ वन्नचउ पणिंदि सुभखगई ॥ १५ ॥
४२ ५ १ ५
वयाल पुण्यपगइ। अपढमसंगण खगई संघयण ॥
२ १ १ १ १ ३ ३
तिरिदुग असायं निओवघाय इग विगल निरियतिग ॥ १६ ॥
१० ४ ४५ ८२
थवारदस वन्नचउक घाईपणयालं सहिय वासीह ॥
पाव पयडित्ति दो सुवि वन्नई गहा सुहा असुहा ॥ १७ ॥

अर्थ—देवत्रिक (गति आनपूर्वी, आयुष्य) एवं मनुष्य त्रिक, ऊचगोत्र, सातावेदनीय, त्रसदशक पाच शरीर (औ० वै० आ० तै० का०), उपाग तीन (औ० वै० आ०) वज्र ऋषभ नाराच सघयण, समचोरस सस्थान, पराघात सप्तक (परा० उच्छ्वास० आतप, उद्योत, अगरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण), तिर्यंचायुष्य, वर्ण चतुष्क (वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श) पंचेन्द्रिय, शुभ विहायोगति एव ४२ पुन्य प्रकृति हैं।

प्रथम को छोड़ के पाच स्थान (निग्रोध, सादि, कुब्ज, वामन, हुड), अशुभ विहायोगति, प्रथम को छोड़ के पाच सहनन (ऋषभ ना० नराच० अर्धना०, किलीका छेवट्ठ) तिर्यंच द्विक (गति, आनु०) असाता वेदनी, नीच गोत्र, उपघात, एकेन्द्रियजाति, विकलेन्द्रिय (द्वि० ति चौरेन्द्रि) नरक त्रिक (गति० आनु० आयु०), स्थावर दशक वर्ण चतुष्क, सर्व घाती और देश घाती ४५ [केवल ज्ञान १, केवल दर्शन १, पाचनिद्रा, बारह कषाय, १२ और मिथ्यात्व सर्वघाती २०। चार ४ ज्ञान, ३ तीन दर्शन, ४ सजवल चार कषाय, नवनोकषाय ९ और पाच अंतराय यह २५ देश घाती एव ४] यह सब मिलकर ८२ पाप प्रकृति कहलाती हैं वर्ण चतुष्क शुभाशुभ की अपेक्षा पुन्य और पाप दोनों में सम्मिलित है।

इति तत्वार्थ सूत्र अष्टमऽध्याय हिन्दी अनुवाद

समाप्त

नवम अध्याय

अष्टम अध्याय में बन्ध का निरूपण किया अब क्रमशः नवम अध्याय में सम्वरतत्व और निर्जरातत्व का निरूपण करते हैं।

संवर स्वरूप।

आस्रव निरोधः संवरः ॥ १ ॥

अर्थ—आस्रव का निरोध ही संवर है ॥ १ ॥

विवेचन—जिस निमित्त से कर्म बन्ध होता है उसे आस्रव कहते हैं (अध्याय ६ सूत्र २) आस्रव का प्रतिबन्ध अर्थात् निरोध करना ही संवर है आस्रव के ४२ भेदों का वर्णन अध्याय ६. सूत्र ६ से ९ तक करचुके हैं उनका जितने अंशों में निरोध होगा उतना ही संवर कहलायगा अध्यात्म विकास अर्थात् गुणस्थानक का क्रम आस्रव निरोध पर अवलंबित है जैसे जैसे आस्रव निरोध होता जायगा वैसे ही उत्तरोत्तर गुणस्थानक (याने अध्यात्म विकास) की अभिवृद्धि होती रहेगी। ॥ १ ॥

संवर का उपाय।

सगुप्ति समितिधर्मा नुपेक्षा परीषद जय चरित्रैः ॥ २ ॥

तपसारा निर्जश्च ॥ ३ ॥

अर्थ—वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुपेक्षा, परीसह, जय और चरित्र से होता है ॥ २ ॥

तप से संवर तथा निर्जरा दोनों होती है ॥ ३ ॥

विवेचन—संवर का स्वरूप वास्तविक रूप से एक ही प्रकार है तथापि उपाय भेद से शास्त्रकारों ने सूत्र में मुख्य सात भेद प्रतिपाद किये हैं आगे इसकी ६९ भेद प्रभेदादि से व्याख्या करगे वे सब धर्मा चार्यों के धार्मिक विधानों पर अवलंबित हैं।

तप जैसे सम्वर का उपाय है वैसे निर्जरा का भी उपाय है सामान्यतया तप लौकिक सुख की प्राप्ति का साधन माना जाता है तथापि निश्चय यह अध्यात्मिक सुख का साधन भी है कारण तप एक प्रकार होते हुवे भी भावना भेद अर्थात् इच्छानुरोध की भन्कल्पना से सकाम और निष्काम दो प्रकार का होता है सकाम तप लौकिक सुख का साधन है और निष्काम तप अध्यात्मिक सुख का साधन है।

नव तत्व प्रकर्ण की व्याख्या में कहा है कि नवीन कर्मों के आगमन को रोके वह संवर। इसको द्रव्य संवर कहा है और कर्म रोकने के लिये शुद्ध उपयोग रूप आत्म परिणामों की धारा को भाव सम्वर कहते हैं इसीवे उपाय हेतु मुख्य ६ भेद और उत्तर ५७ भेद साधन रूप बताये हैं यथा—

समिइ, गुत्ति, परीसह, जइधम्मो, भावणा चरित्ताणि ॥
पण ति दुवीस दश बार स पच भेएहिं सगवन्ना ॥ २५ ॥
(नवतत्व प्रकर्ण)

गुप्ति स्वरूप ।

अर्थ—प्रशस्त रूप से योग निग्रह को गुप्ति कहते हैं ॥ ४ ॥

विवेचन—पूर्वकथित (अध्याय ६ सूत्र १) योगों को सर्व प्रकार से रोकना अर्थात् "निग्रह" करना, यह वास्तविक संवर नहीं है ज्ञान और श्रद्धा पूर्वक प्रशस्त रूप से जो निग्रह किया जाय वही गुप्ति रूप से संवर का उपाय हो सकता है अर्थात् ज्ञानबुद्धि से श्रद्धा पूर्वक मन, वचन, काय, के उन्मार्ग को रोकना ही गुप्ति है इसके मुख्य तीन भेद हैं [१] मनो गुप्ति, [२] वचन गुप्ति, [३] काय गुप्ति। अर्थात् मन, वचन, काय के सावद्य व्यापारों का निरोध करना।

समिति का स्वरूप।

इर्या भाषाएषणादान निक्षेपोत्सर्गाः समितियः ॥ ५ ॥

अर्थ—इर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेप और उत्सर्ग यह पांच भेद समिति के हैं ॥ ५ ॥

विवेचन—मन, वचन, काय के व्यापारों की विवेक युक्त प्रवृति को समिति कहते हैं यह पूर्वोक्त 'गुप्ति का अपवाद मार्ग है समवायांग सूत्र में तीन गुप्ति को (चारित्र का) उत्सर्ग मार्ग और इन गुप्तियों का अपवाद मार्ग पांच समिति कहा है वह केवल उत्सर्ग को कायम रखने के लिये है इसके लिये शास्त्रों में दृष्टांन्त है कि किसी मकान का भारवट [पटिया] तड़क गया हो या जीर्ण हो गया हो ऐसी अवस्था में उसके खंभा लगा देना अति आवश्यकीय है इस तरह उत्सर्ग को कायम रखने के लिये ही अपवाद है अन्यथा अपवाद वर्जनीय है।

(१) इर्या समिति-किसी भी जीव को किसी प्रकार कष्ट न हो ऐसी विवेकता पूर्वक सावधानी के साथ गमन करना।

(२) भाषा समिति—सत्य हितकारी उपयोग सहित परिमित बोलना।

(३) एषणा समिति—जीवन यात्रा के लिये आवश्यकीय निर्दोष वस्तुओं की सावधानी के साथ याचना करने के लिये प्रवर्त मान होना।

(४) आदान निक्षेप समिति—वस्तु मात्र को यत्न पूर्वक प्रमार्जन करके लेनी या रखनी।

(५) उत्सर्ग समिति—अनुपयोगी वस्तु को जीवा कुल रहित "निर्वद्य" भूमि में डालनी।

यति धर्म के भेद।

उत्तम' क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसयम त-
पस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचार्याणि धर्म ॥ ६ ॥

अर्थ—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप त्याग, अकिंचन, और ब्रह्मचर्य यह दश प्रकार का उत्तम धर्म है।

विवेचन—क्षमादि गुणों के साधन से ही क्रोधादि दोषों का अभाव हो सकता है इसलिये वे गुण संवर के उपाय रूप हैं। क्षमादि दश प्रकार का धर्म जब अहिंसा, सत्यादि मूल गुणों सहित और शुद्ध आहारादि प्रकर्ष उत्तर गुणों सहित हो तब उन्हें यति धर्म कहते हैं अन्यथा वे गुण यति धर्म रूप नहीं हो सकते। मूल गुण उत्तर गुण रहित यदि क्षमादि गुण हो तो उसे सामान्य धम कह सकते हैं परन्तु यति धर्म की उच्चकोटि में उस का समावेश नहीं हो सकता। यह दश प्रकार यति धम जैसे—

(१) क्षमा—सहन शीलता को क्षमा कहते हैं क्षमातितिक्षा, सहिष्णुता तथा क्रोध निग्रह ये एकार्थ वाची शब्द हैं।

(क) यदि कोई क्रोधातुर हो उस समय यह विचार करना चाहिये कि क्या इस में मेरी भूल है यदि अपनी ही भूल मालूम होतो शान्त होना चाहिये और अपनी भूल न होतो विचार ना चाहिये कि इसमें इतनी बुद्धि नहीं है कि वह मेरी बात को समझ सके इसलिये तुच्छ बुद्धि समझ कर उस पर क्षमा करे।

(ख) क्रोध के आवेश से मति और स्मृति भंग हो जाती है और शत्रुतादि अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं यावत् अहिंसा व्रत के लोप का हेतु समझ के क्षमा गुण को धारण करे।

(ग)--यदि कोई कटु वचन या परोक्ष में निंदा करे तो समझना चाहिये कि तुच्छ बुद्धि वालों का ऐसा ही स्वभाव होता है।

(घ)—किसी अहित वा अनिष्ट कार्य की उपस्थिति समय अपने पूर्वकृत कर्म के विपाकों का उदय समझ चित्त में स्वस्थता रक्खे इस तरह अनेक प्रकार चिन्तवन करता हुआ क्षमा प्रदान करे।

(२) मार्दव—चित्त में मृदुता और बाह्य व्यवहार में नम्रता वृत्ति को मार्दव करते हैं इस गुण को धारण करने से वा इस की ओर हमेशा चित्तवृत्ति को आकर्षित करने से जाति, कुल रूप, ऐश्वर्य, (ठकुराई) विज्ञान श्रुत (शास्त्र सम्पत्ति), लाभ (इष्ट वस्तु की प्राप्ति) और वीर्यादि आठ प्रकार के मद से होने वाली चित्त की उन्मादकता तथा अहं भाव आदि अनेक प्रकार के दोषों का निग्रह होता है। अर्थात् उपरोक्त आठों मद को चित्त से निकाल देना ही मार्दव धर्म है।

(३) आर्जव—कहना, करना और विचारना इन तीनों की एक्यता अर्थात् विशुद्ध भाव सहित सरलता को आर्जव कहते हैं।

(४) शौच्य—लोभ के अभाव को शौच कहते हैं। शुचि भाव अर्थात् पवित्र कम को शौच कहते हैं भावविशुद्धि वा निष्कलमपता अर्थात् लोभादि मलीन भावों रहित मात्र धम साधना सक्त भाव ही शौच है। -

(५) सत्य—मिथ्या दोष रहित हितकर वचन को सत्य कहते हैं अर्थात् कठोरता, चपलता, असभ्यता, पैशुन्यतादि दोष रहित सत्य भाषा आदरणीय है।

(६) सयम- तीन प्रकारों के योगों (मन, वचन, काय) का निग्रह करना सयम कहलाता है उसके सतरह भेद हैं यथापाच स्थावर, चार त्रस, विषय सयम, प्रेक्षा स० उपेक्षा स० अपहृत स० प्रमृज्य स० काय स० वाक् सं मन स० उपकरण सयम एवं १७ तथा और भी अन्य प्रकार से जैसे—पाच इन्द्रिय, पाच अव्रत, चार कषाय और तीन योगों का निग्रह करना सयम है।

(७) तप—बाह्य और अभ्यन्तर दो प्रकार का है जिसका वर्णन सूत्र १९-२० में करेंगे।

(८) त्याग—बाह्य, अभ्यन्तर उपाधि, शरीर तथा असनपानादि आश्रयीभूत दोषों का परित्याग और योग्य पात्र को ज्ञानादि सद्गुण देना यह त्याग धर्म है।

(९) अकिंचन—शरीर, वस्तु, शिष्यादि सामग्रियों में किसी प्रकार का भी ममत्व न रखना अकिंचन धर्म है

(१०) ब्रह्मचर्य—व्रत के परिपालन अथवा ज्ञान की विशेष वृद्धि के लिये गुरुकुलादि सेवन करना वा अब्रह्मचर्य का स्वरूप अध्याय ७ सूत्र ३ में चौथे व्रत की भावनायें। यह दश प्रकार का उत्तम धर्म यति-अनगार वा साधु धर्म कहलाता है ॥ ६ ॥

अनुपेक्षा के भेद।

अनित्या शरण संसारकत्वान्यत्वा शुचित्वा—
स्रवसंवर निर्जरा लोक वोधि दुर्लभ धर्म स्वा—
ख्यातत्वानु चिन्तनमनुप्रेक्षा ॥ ७ ॥

अर्थ—अनुप्रेक्षा के बारह भेद हैं (१) अनित्य, (२) अशरण (३) संसार (४) एकत्व (५) अनित्यत्व (६) अशुचि (७) आस्रव (८) संवर (९) निर्जरा (१०) लोक स्वरूप (११) वोधि दुर्लभ (१२) धर्मस्वाख्यान के अनुचिंन को धर्म अनुप्रेक्षा कहते हैं ॥ ७ ॥

विवेचन—अनुप्रेक्षा अर्थात् तात्विक दृष्टि से गहन विचार जो बारह भावना के नाम से विख्यात है इसके द्वारा राग द्वेष कुत्सित प्रवृत्तियों का विरोध होता है इसलिये यह संवर का उपाय रूप है और ये भावनायें जीवन शुद्धि के लिये विशेष उपयोगी हैं बाह्याभ्यन्तर सब प्रकार के पदार्थ मात्र की अनित्यतादि का चिन्तवन ही अनुपेक्षा है बारह भेद यथा—

(१) अनित्यानुपेक्षा—किसी भी प्राप्त वस्तु के वियोग से दुःख न हो इसलिये उस पर से ममत्व निकालने के लिये, शरीर घर कुटुम्बादि वस्तुयें सब अनित्य है, विनासवान है। ऐसा चिन्तवन करनें से तत् वियोग जनित दुःख नहीं होता इसको अनित्य भावना (अनुपेक्षा) कहते हैं।

(२) अशरणानुपेक्षा—जैसे = महा अरण्य में क्षुधातुर प्रबल सिंह द्वारा सताये हुवे हरिण के बच्चे को कोई शरण (सहायक) नहीं है वैसे-संसार रूपी महा अरण्य में भ्रमण करते हुवे जन्म, जरा, मरण, आदि अनेक व्याधियों से ग्रस्त जीव को धर्म के सिवाय अन्य कोई शरण नहीं है इस विचार श्रेणी को अनित्य भावना कहते हैं।

(३) ससारानुप्रेक्षा—यह ससार हर्ष, विषाद, सुख, दु खादि द्वन्द्व विषयों का उपवन (बगीचा) है इस अनादि जन्म मरण की घटमाल मे फंसे हुवे जीव का वास्तविक कोई भी स्वजन परजन नहीं है जन्मान्तर में सब प्राणियों के साथ सब प्रकार का सम्बन्ध कर चुका है केवल राग द्वेष और मोह सतप्त जीवों को विषय तृष्णा के कारण परस्पर का आश्रय दु ख अनुभव होता है ससारी तृष्णाओं को त्याग ने के लिये सासारिक वस्तुवों से उदा सीन भाव रहना ही ससार भावना है। इससे ससार की असारता अनुभव होती है।

(४) एकत्वानुप्रेक्षा—ससार म, जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है और अकेला ही अपने बोये हुवे कर्म रूप बीज के सुख दु खादि फलों को अनुभव करता है व्याधि जन्म, जरा, मरणादि दु खों को अपहरण करे ऐसा कोई भी स्वजन सम्बन्धी नहीं है मुमुक्षु जीवों को राग द्वेष प्रसगों से निर्लेप होने के लिये जीव अकेला और असहाय है ऐसा चिन्तवन करे उसको ए कत्व भावना कहते हैं।

(५) अनित्यानुप्रेक्षा—मनुष्य मोहावेश के कारण शरीर वा अन्य वस्तुवों की प्राप्ति, अप्राप्ति ही में अपनी उन्नतावनत दशा को मानकर यथार्थ कर्तव्य को भूल जाता है आत्मा से शरीरादि अन्य पदार्थ सब भिन्न हैं आत्मा नित्य है ये अनित्य हैं इन्द्रियादि अन्य पदार्थ जड़ हैं मै चैतन्य हूं अनन्त अविनाशीरूप हूं इत्यादि सासारिक वस्तुवों की अनित्यता का चिंतवन करना ही अनित्य भावना है।

(६) अशुचित्वानुप्रेक्षा—सब से विशेष मोह शरीर पर होता है इससे मूर्छा हटाने के लिये शरीर के अशुचिपन का चिन्तवन प्रथम यह शरीर अशुचि से उत्पन्न होने वाला, अशुचि का भण्डार

और अशुचि मय है ऐसे चिन्तवन को अशुचि भावना कहते हैं।

(७) आस्रवानुपेक्षा—इन्द्रिय विषयासक्त जीवों को वध, बन्धनादि अनेक प्रकार के दुःख अनुभव करने पड़ते हैं वास्ते प्रत्येक इन्द्रिय जनित राग से उत्पन्न होने वाले अनिष्ट परिणामों का चिन्तवन करना ही आस्रव भावना है।

(८) संवरानुपेक्षा—दुर्वृत्ति के द्वारों को बन्ध करने के लिये सद्वृत्ति के गुणों का चिन्तवन करना इसको संवर भावना कहते हैं।

(९) निर्जरानुपेक्षा—वेदना, विपाक, कर्मफल, निर्जरा ये एकार्थ वाची शब्द हैं निर्जरा अज्ञान और सज्ञान रूप दो प्रकार से होती है जिसको सकाम, अकाम निर्जरा भी कहते हैं कर्म विपाक को अनुबन्ध रहित सद्परिणामों से भोगना या इसके लिये तप त्यागादि कुशल प्रवृतियों का चिन्तवन करना निर्जरा भावना है।

(१०) लोकानुप्रेक्षा—तत्वज्ञान की विशुद्धि के लिये विश्वका वास्तविक स्वरूप चिन्तवन करना ही लोक भावना है।

(११) बोधीदुर्लभानुप्रेक्षा—मोक्ष मार्ग के लिये अप्रमत्त भाव की अभिवृद्धि के हेतु सद् विचारों का चिन्तवन अथवा—मोहादि कर्मों के तीव्रआघात से तथा अनादि प्रवाह रूप दुःखों के प्रपंच जाल में जीव को विशुद्धि दृष्टि और शुद्ध चारित्र प्राप्ति अति दुर्लभ है ऐसे विशुद्ध विचारों को बोधीदुर्लभ भावना कहते हैं।

(१२) धर्मानुप्रेक्षा—धर्म मार्ग से च्युत न हो और उसके अनुष्ठानों में स्थिरता प्राप्त करने के लिये धर्म की उत्तमता और श्रेष्ठताका चिन्तवन करना ही धर्म भावना है ॥ ७ ॥

परीसहों का वर्णन ।

मार्गाच्यवन निर्जरार्थं परिषढ्व्याः परीसहाः ॥ ८ ॥

क्षुत्पिपासाशीतोष्ण दंशमशक नाग्न्यारतिस्त्री—
चर्या निषद्या शय्या क्रोशवधयाचना लाभरोग—
तृण स्पर्शमलसत्कार पुरस्कार प्रज्ञाज्ञाना दर्शनानि ॥ ९ ॥
सूक्ष्म सम्पराय च्छ छद्मस्थ वीतरागयोश्चतुर्दश ॥१०॥
एकादश जिने ॥ ११ ॥
बादर सपराये सर्वे ॥ १२ ॥
ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥
दर्शन मोहान्तराययोरदर्शना लाभौ ॥ १४ ॥
चारित्र मोहे नाग्न्यारति स्त्री निषद्या क्रोश याचना
सत्कार पुरस्काराः ॥ १५ ॥
वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥
एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशते ॥ १७ ॥

अर्थ—सन्मार्ग से च्युत न होकर निर्जरा (कर्मनाश) के लिये जो सहन किया जाय उसे परीसह कहते हैं ॥ ८ ॥

ये मुख्यतया २२ हैं (१) क्षुधा, (२) तृषा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंश मशक, (६) नग्नत्व, (७) अरति, (८) स्त्री (९) चर्या, (१०) निषद्या, (११) शय्या, (१२) आक्रोश, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृणस्पर्श, (१८) मल, (१९) सत्कार पुरस्कार, (२०) प्रज्ञा (२१) अज्ञान, (२२) अदर्शन परीसह ॥ ९ ॥

सूक्ष्म सम्पराय और छद्मस्थ वीतराग में चवदह (१४) परीसह होते हैं ॥ १० ॥

जिन (तीर्थंकर भगवान) में ग्यारह (११) परीसह होते हैं ॥ ११ ॥

बादर संपराय में सब परीसह होते हैं ॥ १२ ॥

ज्ञानावरण निमित्त से प्रज्ञा और अज्ञान दो (२) परीसह होते हैं ॥ १३ ॥

दर्शन मोह और अन्तराय कर्म से यथा क्रम दर्शन और अलाभ परीसह होता है ॥ १४ ॥

चारित्र मोहनीय कर्म से नग्नत्व, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, और सत्कार पुरस्कार एवं ७ परीसह होते हैं ॥ १५ ॥

और शेष परीसह वेदनीय कर्म से होते हैं ॥ १६ ॥

एक समय एक साथ एक आदमी को एक से यावत् उन्नईस परीसह पर्यन्त होते हैं ॥ १७ ॥

विवेचन—संवर के उपाय भूत परीसहों का वर्णन करते हुवे सूत्रकार मुख्य पांच बातों का निरूपण करते हैं (१) परीसह (२) उनकी संख्या, (३) अधिकारी, (४) कारण निर्देश, (५) एक साथ एक जीव में कितने परीसहों का संभव होता है इनका यथा क्रम विवेचन करते हैं।

लक्षण—सम्यग् दर्शनादि सन्मार्ग में अवस्थित रहते हुवे कर्मों की निर्जरा अर्थात् कर्मों को नाश करने के लिये अनेक प्रकार उपद्रव दुःख पीड़ादि को समभाव पूर्वक सहन करना ही परीसह कहलाता है।

संख्या—परीसह के संख्याओं की कल्पना संक्षेप और विस्तार भावापेक्षा न्यूनाधिक रूप से भी की जासकती है किसी प्रकार की पीड़ा या उपद्रव के समय भी अपनी त्याग वृति की भावनाओं को सदा प्रफुल्लित बनाये रखना अति आवश्यकीय है प्रस्तुत सूत्र

से जो बाईस परीसह बताये जाते हैं वे पाच कर्म प्रकृतियों (ज्ञाना० दर्शना० वेदनी० मोहनीय० अन्तराय) के उदय भाव में होते हैं। उनके नाम—

(१-२) क्षुधा और पिपासा परीसह-कठिन भूख और तृषा के समय भी अपनी मर्यादा के विरूद्ध आहार पानी ग्रहण न करे और समभाव पूर्वक उस वेदना को सहन करे।

(३-४) शीत और उष्ण परीसह—उत्कट ठंड और गर्मी के समय की असह्य वेदना के समय भी कल्पनीय वस्तु के सेवन की इच्छा मात्र भी न करके समभाव पूर्वक वेदना सहन करे।

(५) दंश मशक परीसह - मच्छरादि जन्तुवों के उपद्रव से मन (हताश) न होकर समभाव पूर्वक सहन करे।

(६) नग्नत्व परीसह—नग्न पने को समभाव पूर्वक सहन करे इसी परीसह के विषय में श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में मुख्य मत भेद है और इसी पर से श्वेताम्बर, दिगम्बर यह नाम भी रखा हुआ है।

(७) अरति परीसह—किसी प्रकार का भी प्रतिकूल प्रसंग उपस्थित होने पर मन में ग्लानी या अधैर्यता न लाकर धैर्यता धारण करनी।

(८) स्त्री परीसह—साधक पुरुष हो या स्त्री अपने साधन मार्ग में विजातीय आकर्षण से ललचाय मान हो के पतन अवस्था को प्राप्त न होकर सदा चारित्र में रहना।

(९) चर्या परिसह—किसी एक नीयत स्थान में आवास न करके असंगत पने धर्म जीवन की पुष्टि करता हुआ स्थानान्तर गमन करता रहे।

(१०) निषद्या परीसह—साधक की अनुकूलता के अनुसार

एकान्त स्थान में मर्यादित समय तक एकासन से ध्यानस्थ बैठे हुवे को यदि भय उपस्थित हो उस समय मन को स्थिर रखता हुवा आसन से च्युत न हो।

(११) शय्या परीसह—स्वभावतः कोमल या कठिन अनुकूल या प्रतिकूल जैसी शय्या प्राप्त हो उसी पर समभाव पूर्वक शयन करना।

(१२) आक्रोश परीसह—कोई कठोर या कर्कश वचन कहे उसको सम भाव पूर्वक सहन करता हुवा हितकर के समान समझे।

(१३) वध परीसह—कोई ताड़ना तर्जना करे उसको धैर्यता के साथ सहन करता हुवा सेवा सुश्रुषा के समान समझे।

(१४) याचना परीसह—दीन या अभिमान पने को त्याग कर मात्र धर्म साधन के निर्वाह हेतु याचना वृत्ति स्वीकार करे।

(१५) अलाभ परीसह—याचना करते हुवे यदि योग्य वस्तु प्राप्ति न हो तो तप की अभिवृद्धि से उत्साहित होके संतोषित रहे।

(१६) रोग परीसह—किसी प्रकार की रोग की उपस्थिति में व्यग्रचित्त न होकर समभाव से सहन करे।

(१७) तृणस्पर्श परीसह—तृणादि की तीक्षण या कठोरता के स्पर्श को समभाव से सहन करे।

(१८) मल परीसह—शरीर मालीन्य अवस्था संयम उद्वेग या स्नानादि संस्कारों की इच्छा न करे।

(१९) सत्कार पुरस्कार परीसह—मान अपमान के समय हर्ष विषाद न करके समभाव पूर्वक रहे।

(२०) प्रज्ञा परीसह—विद्या लब्धि आदि विशेष बुद्धि होने पर अभिमान न करके और ऐसी योग्यता न होने पर उदास भी न हो।

(२१) ज्ञान परीसह व अज्ञान परीसह—विशिष्ट ज्ञानसे गर्व या उसके अभाव में आत्म-अपमान न करके समभाव से रहे।

(२२) अदर्शन परीसह—सूक्ष्म और अतीन्द्रिय पदार्थ नहीं दिखते इस लिये विवेकी जन अपनी त्याग वृत्ति मे उदास नहो उसी स्थिति में प्रसन्न चित्त से रहता हुवा श्रद्धा का पोषण करता रहे।

उक्त बाईस परीसह धर्म के विघ्न करने वाले होते हैं इसलिये सद्चारित्रियों को उस समय राग द्वेष न करके समभाव पूर्वक सहन करना ही श्रेय है।

अधिकारी—उक्त बाईस परीसहों में से किनको किस अवस्था में कितने परीसह होते हैं उसका तीन सूत्रों से कथन करते हैं।

सूक्ष्मसम्पराय, उपशान्त मोह, और क्षीण मोह नामक तीन गुण स्थानों में चौदह परीसह होते हैं। क्षुधा, पीपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, प्रज्ञा, अज्ञान, अलाभ, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल शेष आठ परीसह नहीं होते जिसका कारण यह है कि वे मोह जन्य होते हैं दशमें गुणस्थानक में मोह की मात्रा बिलकुल अल्पान्श होती है और ग्यारहवें, बारहवें, गुण स्थानक में मोह का सर्वथा अभाव है इसलिये उक्त गुणस्थानक में शेष आठ परीसह संभव नहीं होते।

तेरहवें चौदहवें गुणस्थानक में ग्यारह परीसह होते हैं क्षुधा पीपासा, शीत उष्ण, दंश मशक, चर्या, शय्या, रोग, तृणस्पर्श, और मल शेष ग्यारह परीसह घाती कर्म जन्य होने से उनका यहां अभाव रहता है क्यों कि इन गुण स्थानों में घाती कर्म का अभाव ही है।

अर्थ—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और काय क्लेश एवं छ (६) प्रकार का बाह्य तप है ॥ १६ ॥

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, और ध्यान एवं छ (६) प्रकार का अभ्यन्तर तप है ॥ २० ॥

विवेचन—शरीर, इन्द्रिय और मन की विषय वासनाओं को आध्यात्मिक बल की उन्नति के लिये क्षीण करना तप का कार्य है उसके बाह्य और अभ्यन्तर मुख्य दो भेद हैं जिसमें शरीरिक क्रिया की प्रधानता हो उसको बाह्य तप कहते हैं यह बाह्य द्रव्य सापेक्ष होता है और जिसमें बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं करनी केवल मानसिक क्रिया की ही प्रधानता रहती हो उसको अभ्यन्तर तप कहते है यह बाह्य तप की पुष्टि के लिये भी उपयोगी है इस वर्गीकरण में सूक्ष्म और स्थूल सब प्रकार के धार्मिक नियमों का समावेश होता है।

बाह्यतप—छ ६) प्रकार का है (१) मर्यादित समय तक या जीवन पर्यन्त सब प्रकार के आहार त्याग को अनशन तप कहते हैं।

(२ क्षुधा से न्यून भोजन करना अवमौदर्य ऊणोदरी) तप है

(३) विविध प्रकार के वस्तुवों पर की तृष्णा को संक्षिप्त (न्यून) करनी वृत्तीसंक्षेप तप है।

(४) घी, दूध, दारू, मधु, मक्खनादि विकारिक रसों के परित्याग को रस परित्याग तप कहते हैं।

(५) एकन्तवाधारहित स्थान में रहना और शरीर को संकोच वृत्ति से रखना उसको विविक्त शय्यासन संलीनता तप कहते है।

(६) शीत, तप, आसनादि से शरीर आतप्त करना काय क्लेशतप है।

अभ्यन्तर तप--छ प्रकार का है (१) व्रत में प्रमाद से लगे हुये दोषों की शुद्धि करना प्रायश्चित तप है (२) ज्ञानादि सद गुणों का बहुमान करना विनय तप है (३) योग साधनों को पूरा करना या सब प्रकार की सेवा शुश्रूषा करनी वैयावृत्य तप है (४) ज्ञान प्राप्ति के लिये अभ्यास करना स्वाध्याय तप है (५) अहत्व और ममत्व के परित्याग को व्युत्सर्ग तप कहते हैं (६) चित्त के विक्षेप चपलतादि दुर्ध्यान के परित्याग को ध्यान कहते है, (६) प्रकार के अभ्यन्तर तपकी संख्या अगले सूत्र से बताते हैं ॥ १९-२० ॥

अभ्यन्तर तप भेदो की संख्या।

नवचतुर्दश पञ्चद्विभेद यथा क्रम प्रग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

अर्थ--ध्यान छोड़ के शेष अभ्यन्तर तप के नौ, चार, दश, पाच और दो यथा क्रम भेद होते हैं ॥ २१ ॥

विवेचन--ध्यान का विषय विस्तृत होने से शेष पाच अभ्यन्तर तप के भेदों की संख्या अनुक्रम से बताई है जैसे प्रायश्चित के ९ भेद, विनय के ४, वैयावृत्य के १०, स्वाध्याय के ५, और व्युत्सर्ग के दो भेद होते है इनका नाम अगले सूत्र द्वारा बतावेंगे ॥ २१ ॥

प्रायश्चित के भेद।

आलोचन प्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्ग--
तपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि ॥ २२ ॥

अर्थ--प्रायश्चित के नौ भेद है आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय (मिश्र), विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, और उपस्था पन ॥ २२ ॥

विवेचन--व्रत दोषित होने पर प्रायश्चित् अनेक प्रकार से होता है इसका व्यवहार और जीत कल्प सूत्र में सविस्तार वर्णन है परन्तु यहां सूत्रकारने मुख्यतया ९ भेद प्रतिपादन किये हैं यथा-(१) आलोचना—गुरु आदि के समक्ष सरल भाव से अपनी भूल को प्रगट करना इसको आलोचना कहते हैं, आलोचन, प्रकटन, प्रकाशन, आख्यान, प्रादुष्करण ये सब एकार्थ वाची शब्द है। (२) प्रतिक्रमण—मिथ्या पापों के कारणों का पश्चाताप, प्रत्याख्यान, और कायोत्सर्ग करना और पुनः वैसे दुष्कृत न हो ऐसी सावधानी से रहना, (३) मिश्र उपरोक्त आलोचन, प्रतिक्रमण एक समय करना, (४) विवेक-किसी विषय के विवेचन या विशेष सोधन को विवेक कहते हैं (५) व्युत्सर्ग—एकाग्रता पूर्वक शरीर और वचन के व्यापार का परित्याग करना, (६) तप अनशन उपवासादि अनेक प्रकार का है (७) छेद—दोष के अनुसार दिन, मास, वर्ष आदि प्रव्रज्या पर्याय न्यून करनी, (८) परिहार—दोषित व्यक्ति को दोष के अनुसार निमित समय तक उसके साथ किसी प्रकार का व्यवहार न करके उसको अलग रखना, (९) उपस्थापन—व्रत भंग होने के कारण पुनः नवीन दिक्षा रोप करनी ॥ २२ ॥

विनय के भेद।

ज्ञान दर्शन चारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ—विनय के चार भेद हैं ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और उपचार ॥ २३ ॥

विवेचन--वस्तुतः विनय एक ही प्रकार का है परन्तु केवल विषय दृष्टि की अपेक्षा से उसके भेद किये गये हैं यथा—

ज्ञान—पठनपाठन के लिये हमेशा तत्पर रहना, (२) दर्शन सम्यग् दर्शन में नि सन्र रहना। शङ्काओं का समाधान करना (३) चारित्र सामायिकादि पूर्वोक्त चारित्र में चित्त समाधान रखना, (४) उपचार-गुणीजनों का सत्कारादि बहुमान करना ॥ २३ ॥

वैयावृत्य के भेद।

आचार्योपध्याय तपस्वि शैक्षकग्लानगण कुल—
मघ साधु समनो ज्ञानाम् ॥ २४ ॥

अथ—वैयावृत्य के दश भेद हैं आचार्य, उपाध्याय, तपस्वि शैक्षक, ग्लानी, गण, कुल, मघ, साधु, और समनोज्ञ ॥ २४ ॥

विवेचन—सेवा सुश्रुषा में तत्पर रहना इसको वैयावृत्य कहते ह, योग्य पात्रों की अपेक्षा से उसके दश भेद बताये हैं उनकी सेवा करनी यथा—[१] व्रत आचारादि व्यवहार प्रवर्ताने वाले को आचार्य कहते हैं उनकी सेवा करनी। इसी तरह [२] श्रुता भ्यास कराने वाले उपाध्याय की, [३] शैक्षक—नवदिक्षित शिक्षा भिलासी की, [४] तपस्वी—उग्रतप करने वाले की [५] ग्लानी रोग.ग्रस्त की, [६] गण—एक साथ पढ़ने वाले या रहने वाले कई आचार्यों के शिष्य समुदाय की, [७] कुल-एकही दिक्षाचार्य क शिष्य परिवार को, [८] सध—समुदाय [साधु, साध्वी, श्रावक श्राविका] [९] साधु प्रव्रज्यावान की, [१०] समनोज्ञ ज्ञानादि गुणों से समानता वाले की सेवा सुश्रुषा करनी ॥ २४ ॥

स्वाध्याय के भेद।

वाचना प्रच्छ नानुप्रेक्षाम्नाय धर्मोपदेश ॥ २५ ॥

अर्थ—स्वाध्याय के पांच भेद हैं वाचना, पृच्छना अनुप्रेक्षा आम्नाय और धर्मोपदेश ॥ २५ ॥

विवेचन—ज्ञानप्राप्त करने के लिये या उसको निशंक, विशद (निर्मल), परिपक्व अथवा उसका प्रचार करने के लिये जो प्रयत्न किया जाय वह सब स्वाध्याय रूप है उसको अभ्यास क्रम की शैली के अनुसार पांच भेद किये हैं यथा—(१) वाचना-शिष्यों को पढ़ाना, (२) पृच्छना—शंका समाधान या ग्रन्थ के भावार्थ को प्रश्न पूर्वक जानना, (३) अनुप्रेक्षा—शब्द पाठादिका मनन चिन्तवन (४) आम्नाय—परावर्तन—पढ़े हुवे शास्त्रों का पुनरावर्तन करना, (५) धर्मोपदेश—धर्म के रहस्य को समझना ॥२५॥

व्युत्सर्ग के भेद।

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

अर्थ—व्युत्सर्ग के दो भेद बाह्य और अभ्यन्तर रूप उपाधि का परित्याग ॥ २६ ॥

विवेचन—त्याग का स्वरूप वास्तविक रीति से अहंत्व, ममत्व, भाव की निवृत्ति रूप है परन्तु त्याज्य (त्यागने योग्य) वस्तु बाह्य और अभ्यंतर दो प्रकार होने से उसके दो भेद माने गये हैं यथा—(१) धन, धान, क्षेत्रादि बाह्य वस्तुवों में ममत्व भाव न करना यह बाह्य व्युत्सर्ग, (२) शरीर पर का ममत्व भाव तथा कषायिक विकारों की तन्मयता के त्याग को अभ्यन्तर व्युत्सर्ग कहते हैं ॥ २६ ॥

ध्यान का वर्णन।

उत्तम संहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ॥ २७ ॥

आमुहूर्तात् ॥ २८ ॥

अर्थ—उत्तम सहनन वाले की एकाग्रता के साथ अन्त करणों की चिन्तादि के निरोध को ध्यान कहते है ॥ २७ ॥

उसकी मर्यादित स्थिति अन्तर मुहूर्त पर्यन्त है ॥ २८ ॥

विवेचन—शास्त्रकार प्रस्तुत सूत्र द्वारा ध्यान विषयी तीन बातों का स्पष्टिकरण करते है [१] अधिकारी, [२] स्वरूप, [३] काल परिणाम।

अधिकारी—छै संहनन [अ० ८ सुत्र ४२] में से प्रथम के तीन सहनन उत्तम माने गये है उस में से किसी एक सहनन वाला ध्यान का अधिकारी हो सकता है क्योंकि ध्यान करने वाले को मानसिक बल की आवश्यकता रहती है और वह शारीरिक बल की योग्यता के अनुसार होता है वह योग्यता पूर्वक तीन [वज्र ऋष०, अर्द्धवज्र०, नाराच] सहननों में रहती है इसलिये वे ही अधिकारी हैं। शेष तीन सहनन वालों का शारीरिक बल कम होने से मानसिक बल भी कम होता है इसलिये चित्त की स्थिरता नहीं रहती और योग्य स्थिरता के बिना एकाग्रता नहीं होती वास्ते उनकी गणना ध्यान में नहीं है।

स्वरूप—अनेकानेक विषयालम्बी ज्ञानधारा भिन्न भिन्न दिशाओं से प्रवाहित होने वाले पवन के झकोरे से दीपक की शिखा के समान अस्थिर [चलायमान] रहती है उस चपल धारा को अनेक विषयों से हटाकर किसी एक इष्ट विषय पर स्थिर करना ही ध्यान है इस प्रकार का ध्यान छद्मस्थ आत्माओं को होता है।

सर्वज्ञत्व प्राप्त होने के पश्चात् अर्थात् तेरहवें, चौदहवें गुण स्थानक में भी ध्यान स्वीकार किया गया है परन्तु इसका कथन दूसरे प्रकार से है तेरहवें, गुणस्थानक के अन्त समय जब मन, वचन, कायिक व्यापारों का निरोध क्रम सरू होता है उस समय

स्थूल कायिक व्यापार के निरोध होने पर जब सूक्ष्म कायिक व्यापार अस्तित्व रहता है उस समय सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती नामक तीसरा शुक्ल ध्यान माना गया है और जब चौदहवें गुण-स्थानक में अयोगीदशा के शलेषी करन समय समुच्छिन्न क्रिया निवृति नामक चौथा शुक्ल ध्यान माना गया है ये दोनों ध्यान चित्त व्यापार न होने से छद्मस्त के समान चिन्ता निरोध रूप नहीं है सूत्र कार का कथन छद्मस्त ध्यान विषयी है यह मात्र कायिक स्थूल व्यापारों को रोकने का प्रयत्न एक प्रकार का ध्यान ही है अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तेरहवें गुणस्थानक में प्रारंभ से यावत् अन्त समय अर्थात् योग निरोध क्रम के आदि समय तक तेरहवे गुणस्थानक में कौन सा ध्यान होता है ? इसका उत्तर दो प्रकार से है [१] विहरमान सर्वज्ञ दशा को ध्यानान्तरिका कहते हैं इसमें कोई प्रकार का ध्यान स्वीकार नहीं करते. [२] मन, वचन, कायिक व्यापारों के सुदृढ़ प्रयत्न को ही ध्यान स्वरूप माना है।

कालमान—उपर्युक्त ध्यान अधिक से अधिक अन्तर मुहूर्त प्रयंत अवस्थित रहता है उसकी काल मर्यादा है।

कितनेक स्वासोस्वास के निरोध को ध्यान मानते हैं और कोई हस्वादि मात्रा के काल गणना को ध्यान मानते हैं परन्तु जैन परम्परा वाले ऐसा नहीं मानते इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण स्वासोस्वास निरोध करने से (रुक लेने से) शारीरिक अवस्था नहीं रह सकती इसलिये मन्द या मन्दतम स्वासध्यानस्थ अवस्था में भी प्रचलित रहता है और जो मात्रा से काल का मान करते हैं तब मन किसी गणित [क्रिया में व्यग्रचित्त होने से एकाग्रता के बदले व्यग्रतावाला होजायगा। और बहुत दिनों तक ध्यान में

रह सकता है ऐसी जो लोग मान्यता है वह भी जैन परम्परा को अमान्य है इससे इन्द्रियों का उपघात होता है अन्तर मुहूर्त से अधिक रहना कठिन है एक दो तीन चार दिन या इससे भी अधिक दिन ध्यान किया जो ऐसा कहते हैं उसका मतलब यह है कि उसी आलम्बन में लगे रहना अर्थात् एकवार ध्यान करके पुन उसी में या रूपान्तर मे अन्यालम्बन से दूसरे ध्यान में प्रवर्तमान होना इस प्रवाह रूप से अधिक समय तक रहता है। ध्यान का जो अन्तर मुहूर्त का काल मानें बताया है वह छद्मस्थ की अपेक्षा समझना चाहिये। सर्वज्ञ में ध्यान का काल मान अधिक सभवित होता है कारण व मन वचन कायिक प्रवृत्ति के सुदृढ़ प्रयत्न को अधिक समय तक रोक सकते हैं जिस आलम्बन पर उनका ध्यान प्रवाहित है वह आलम्बन सम्पूर्ण द्रव्य रूप न हो के उसका पर्याय रूप होता है कारण द्रव्य का चिंतवन किसी एक पर्याय द्वारा शक्य है द्रव्य का स्वरूप अनादि अन्त सास्वत रुप है ॥२७-२८॥

ध्यान के भेद।

आर्तरौद्र धर्म शुक्लानि　　　　　　　　　　॥ २९ ॥

पर मोक्ष हेतु　　　　　　　　　　　　　　॥ ३० ॥

अर्थ—ध्यान चार प्रकार का होता है (१) आर्त ध्यान (२) रौद्र ध्यान (३) धर्म ध्यान (४) शुक्ल ध्यान ॥ २९ ॥

अत के दो ध्यान मोक्ष के कारण भूत हैं ॥ ३० ॥

विवेचन—उपरोक्त चार ध्यानों में से पूर्व के दो (आर्त, रौद्र) ध्यान ससार के कारण भूत दुर्ध्यान होने से त्याज्य रूप हैं और धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण भूत होने से सुध्यान आदरणीय हैं ॥ २९-३० ॥

आर्त ध्यान का लक्षण ।

आर्तममनोज्ञानाम् सम्प्रयोगेतद्विप्रयोगाय-
स्मृतिसमन्याहार ॥ ३१ ॥
वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥
विपरीतं मनोज्ञानम् ॥ ३३ ॥
तदंविरत देश विरत प्रमत संयतानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—अमनोज्ञ (अप्रिय वस्तु) संप्रयोग (संयोग) होने पर उसके वियोगार्थ चिन्ता की एकाग्रता करना आर्त ध्यान है ॥३१॥

दुःख प्राप्त होने पर उसको दूर करने के लिये सतत चिन्ता करनी भी आर्तध्यान है ॥ ३२ ॥

प्रिय वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिये चित्त की एकाग्रता रूप ध्यान को आर्त ध्यान कहते हैं ॥ ३३ ॥

नहीं प्राप्त हुई वस्तु की प्राप्ति के लिये संकल्प रूप चित्त की एकाग्रता यह चौथा आर्त ध्यान है ॥ ३४ ॥

उपरोक्त चार प्रकार के आर्त ध्यान अविरत देश विरत और प्रमत गुणस्थानों में संभवित होता है ॥ ३५ ॥

विवेचन—सूत्र २९ के अनुसार आर्तध्यान के भेद और उसके स्वामी इन दो बातों का प्रस्तुत सूत्रों से निरूपण करते हैं अर्ति (पीड़ादि दुःख) जिससे उभ्दव हो उसकी उत्पत्ती के लिये मुख्य चार कारण हैं (१) अनिष्ट, वस्तु का संयोग, (२) इष्ट वस्तु का वियोग, (३) प्रतिकूल वेदना, (४) भोगों की लालसा इन कारणों से आर्तध्यान के चार भेद किये गये हैं जिसकी व्याख्या सूत्रार्थ में की गई है ।

स्वामी—उक्त आर्तध्यान प्रथम के चार गुणस्थानक (१-२-३-४) तथा देश विरत और प्रमत एवं छे गुणस्थानकों में पाया जाता है परन्तु प्रमत गुणस्थानक में निदान नामक चतुर्थ भेद के सिवाय तीन ही भेद सभवित होते हैं॥ ३१-३५॥

रौद्र ध्यान निरूपण।

हिन्सानृतस्तेयविपयसरत्तेभ्यो रौद्रमविरती-
देश विरतयो॰ ॥ ३६ ॥

अर्थ—हिंसा, असत्य, चोरी और विपय सरक्षण के लिये चित्त की एकाग्रता (चिन्ता) को रौद्र ध्यान कहते हैं यह अविरत और देश विरत में सभवित होता है॥ ३६॥

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में रौद्र ध्यान के भेद और उसके स्वामी का वर्णन है अर्तध्यान के समान रौद्र ध्यान के भी मुख्य चार कारणों पर से उसके चार भेद किये हैं (१) हिन्सानुबन्धी, (२) असत्यानुबन्धी, (३) स्तेयानुबन्धी, (४) विपया संरक्षणानुबन्धी इन विपयों में लुब्ध या चिंतित रहना भी रौद्र ध्यान है प्रथम गुणस्थानक से यावत् पचम गुणस्थानक पर्यन्त यह ध्यान सभवित होता है इसलिये उक्त गुणस्थानक वर्त्ती आत्मा इसके स्वामी है॥ ३६॥

धर्म ध्यान का निरूपण।

आज्ञाअपायविपाक संस्थानविचयाय धर्म-
मप्रमत सयतस्य ॥ ३७ ॥
उपशान्त क्षीण कषायोश्च ॥ ३८ ॥

अर्थ—आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान की विचारणा हेतु मनोवृत्ति की एकाग्रता को धर्म ध्यान कहते हैं यह अप्रमत्त संयत में संभवित होता है ॥ ३७ ॥

और पुन उपशान्त मोह, क्षीण मोह, गुणस्थानक में भी सम-वित होता है ॥ ३८ ॥

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों से धर्म ध्यान के भेद तथा उसके स्वामी का कथन है।

भेद—(१) आज्ञाविचयधर्मध्यान—वीतराग प्रणित जिनशास्त्र की आज्ञा विषय बहुमान पूर्वक हमेशा तत्पर रहना, (२) अपाय विचय धर्म ध्यान—दोषों के रूप को समझकर उससे कैसे पृथक् रहना इसका विचार अर्थात् सन्मार्ग की गवेषणा, (३) विपाक विचय धर्मध्यान अनुभव होने वाले कर्म फल के विपाक विषय विचारणा, (४) संस्थान विचय धर्मध्यान—लोक स्वरूप का विचार करना।

स्वामी—धर्म ध्यान के अधिकारी विषय श्वेताम्बर और दिगाम्बरीय सम्प्रदाय की मान्यता सदृश रूप नहीं है श्वेताम्बरीय मान्यता के अनुसार सूत्रोक्त सातवें, ग्यारहवें, बारहवें, गुणस्थानक में तथा मध्य वर्ती सूचित होने वाले आठवें, नौवें, दशवें गुणस्थानक में अर्थात् सात से बारहवें गुणस्थानक पर्यन्त छे गुणस्थानों में धर्म ध्यान संभवित होता है और दिगाम्बरीय आम्नावाले चौथे से सातवें गुणस्थानक पर्यन्त चार गुणस्थानों में ही धर्म ध्यान की संभावना स्वीकार करते हैं इनका कहना है कि सम्यक्त्व को श्रेणी के प्रारंभ काल से पहले धर्म ध्यान संभवित होता है श्रेणी प्रारभ होने के पश्चात् धर्म ध्यान संभवित नहीं होता इसलिये आठवें, आदि गुण स्थानों में धर्म ध्यान को नहीं स्वीकार करते ॥ ३७—३८ ॥

शुक्ल ध्यान का निरूपण ।

शुक्ले चाद्ये पूर्व विदः ॥ ३९ ॥
परेकेवलिन' ॥ ४० ॥
पृथक्त्वैकत्व वितर्क सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति ॥ ४१ ॥
तत्र्येक काययोगानाम् ॥ ४२ ॥
एकाश्रये सवितर्के पूर्वे ॥ ४३ ॥
अविचार द्वितीयम् ॥ ४४ ॥
वितर्क श्रुतम् ॥ ४५ ॥
विचारोऽर्थ व्याञ्जनयोग सङ्क्रान्तिः ॥ ४६ ॥

अर्थ—सूत्र ४१ में कहे हुवे शुक्ल ध्यान के चार भेदों में से प्रथम के दो भेद ग्यारहवें, गुणस्थानक धती पूर्व धर मुनि को होता है ॥ ३९ ॥

पीछे के दो भेद केवली में होते हैं ॥ ४० ॥

शुक्ल ध्यान के चार भेद [१] पृथक्त्व वितर्क, [२] एकत्व वितर्क, [३] सूक्ष्म क्रिया प्रति पाति, [४] व्युपरतक्रिया निवृत्ति है ॥ ४१ ॥

इस चार प्रकार के शुक्ल ध्यान में से अनुक्रम से तीन योग वाला प्रथम भेद [पृथ०] का स्वामी है । किसी एक योग वाला दूसरे भेद [एक०] का स्वामी है काय योग वाला तीसरे भेद (सूक्ष्म०) का स्वामी है अयोगी चौथे भेद [व्युप०] का स्वामी है ॥ ४२ ॥

प्रथम के दो भेद एक आश्रय जनित सवितर्क होते हैं ॥ ४३ ॥

इसमें से दूसरा भेद अविचार और पहला भेद सविचार है ॥४४॥

वितर्क श्रुत को कहते हैं ॥ ४५ ॥

अर्थ, व्यंजन और योग के परिवर्तन को विचार कहते हैं ॥४६॥

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों से शुक्ल ध्यान के स्वामी, भेद और स्वरूप का वर्णन करते हैं।

स्वामी—इसका स्वरूप दो प्रकार से कथन किया गया है एक गुणस्थानक दृष्टि से और दूसरा योग दृष्टि से गुणास्थान दृष्टि से शुक्ल ध्यान के चार भेदों में से प्रथम के दो भेदों का स्वामी ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान वर्ती पूर्वधरलब्धी वाले होते हैं इस से यह सूचित होता है कि यदि ग्यारहवें अंग के धारक होतो उनको ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानक में शुक्ल ध्यान की जगह धर्म ध्यान होता है यह सामान्य रूप से कहा है क्योंकि मापुतस, मरुदेवी आदि को शुक्ल ध्यान संभवित है और पिछले शुक्ल ध्यान के दो भेदों के स्वामी केवली हैं अर्थात् तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानक वर्ती आत्मा है।

योग दृष्टि से उक्त चार भेदों में से पहिला भेद (पृथ०) तीन योगवालों में पाया जाता है मन, वचन. काय योग में से किसी एक योग वाला दूसरे भेद [एकत्व०] का स्वामी है। केवल एक काया योग वाला तीसरे भेद [सूक्ष्म०] का स्वामी है और चौथे [व्युप०] का स्वामी अयोगी चौदहवें गुणस्थानक वर्ती आत्मा है।

भेद—अन्य ध्यानों के समान शुक्ल ध्यान के भी चार भेद हैं जिन को चार पाया भी कहते हैं [१] पृथक्त्व वितर्क सविचार, (२) एकत्व वितर्क निर्विचार, (३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, (४) व्युपरत क्रिया निवृत्ति (समूच्छिन्नक्रिया निवृत्ति)

स्वरूप—प्रथम के दो शुक्ल ध्यानों में वितर्क भावका सह धर्म्य और पूर्वधर आत्माओं से प्रारंभ होने के कारण वे दोनों

स्याम भावी (सह धर्म भावी) होते हुवे भी उनमें भेद, अभेद पने का वैषम्य भाव रहा हुवा है पहिला पृथक्त्व अर्थात् भेद स्वभावी है और दूसरा एकत्व अर्थात् अभेद स्वभावी है तात्पर्य यह है कि वितर्क भाव की दोनों में समानता होने पर भी पहिला विचार सहित और दूसरा विचार रहित है इसी कारण इनका नाम यथा क्रम पृथक्त्व वितर्क सविचार और एकत्व वितर्क अविचारी रक्खा गया है जब कोई ध्यान करने वाला पूर्वधर हो तो वह अपने पूर्व गत श्रुताधार से अथवा पूर्वधर न होतो अपने संभवित श्रुताधर से किसी परमाणु आदि जड़ पदार्थ विषयी अथवा आत्म रूप चैतन्य द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्तित्व अमूर्तित्वादि अनेक पर्यायों का द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिक विविध नयों द्वारा भेद प्रमे दादि का चिन्तवन करे और यथा संभवित श्रुतज्ञान के आधार से किसी एक द्रव्य के अर्थ पर से दूसरे द्रव्य के अर्थ पर अथवा एक पयाय के अर्थ पर से अन्य पयाय के अर्थ पर चिन्तवन (विचार) के लिये प्रवर्तमान हो अथवा एक योग को छोड़ के अन्य योग में प्रवर्तमान हो उसको पृथक्त्व वितर्क सविचार ध्यान कहते हैं कारण इसमें वितर्क (श्रुतज्ञान) का आलम्बन लेके एक अर्थ पर से दूसरे अर्थ पर या एक शब्द से दूसरे शब्द पर संक्रम (सचार) होता है और इससे विपरीत यदि ध्यान करने वाला अपने संभवित श्रुताधार पर किसी एक पर्याय रूप अर्थ को ग्रहण करके उसमें एकत्व (अभेद प्रधान) चिन्तन करे और मन आदि तीन योगों में से किसी एक योग पर अटल रूप से अवस्थित रह कर शब्द और अर्थ के चिन्तवन में या भिन्न भिन्न योगों में सच रन या परिवर्तन न करके अवस्थित रहे उसको एकत्व वितर्क अविचार ध्यान कहते हैं इसका कारण यह है कि वितर्क अर्थात् श्रुत का साम्य भाव होते हुवे भी यहां अभेद प्रधान पने चिन्तवन

होता है किन्तु अर्थ शब्द तथा योगों का परिवर्तन नहीं होता उक्त दोनों भेदों मे से प्रथम भेद का दृढ़ अभ्यास होने से दूसरे भेद की योग्यता प्राप्त हो सकती है जैसे-बिच्छू, सर्पादि का जहर सब शरीर में व्याप्त हो जाता है तथापि किसी मंत्रादि उपाय द्वारा उसे डंक पर ले आते हैं इसी तरह भिन्न भिन्न सांसारिक विषयों मे चंचल रूप से भ्रमण करते हुवे मन को ध्यान द्वारा किसी एक विषय में स्थिर करना है और मन स्थिर होने से शेष इन्द्रियां स्वतः शान्त हो जाती हैं और मन भी उपरोक्त एक विषय में स्थिर होने से उसकी चपलता नष्ट होके निष्प्रकम्प बन जाता है और उससे परिणाम यह होता है कि कर्म बन्ध से मुक्त होके सर्वज्ञ पद को प्राप्त करता है ।

सर्वज्ञ (केवली) भगवान योग निरोध क्रम समय स्थूल योगों को निरोधकर (रोककर) सूक्ष्म शरीर (काय योग) का आश्रय लेते हैं उस को सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति ध्यान कहते हैं इसमें स्वासो स्वास जैसी सूक्ष्म शारीरिक क्रिया शेष रहती है और जिस समय इस क्रिया का भी रूध्यान होता है और आत्म प्रदेश सर्वथा नि· ष्कम्पता को प्राप्त होते हैं उसको व्युपरत क्रिया निवृत्ति (समू- च्छिन्न क्रिया निवृत्ति) ध्यान कहते हैं इसमें मन, वचन, कायिक क्रिया स्थूल या सूक्ष्म किसी भी प्रकार की नहीं होती और शेष कर्मों का क्षय कर मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं तीसरे, चौथे ध्यान में किसी प्रकार का अवलम्बन नहीं रहता इसलिये इसको अना लम्बन भी कहते हैं ॥ ३९-४६ ॥

सम्यग्दृष्टि जीवों की निर्जरा का तारतम्यत्व ।

सम्यग्दृष्टि श्रावक विरतानन्तवियोजक दर्शन-

मोहक्षयकोपरमकोपशान्तमोहक्षयकक्षीण मोह -
जिनः क्रमशोऽसंख्येयगुण निर्जरा ॥ ४७ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबंधी वियोजक दर्शन मोहक्षपक, उपशमक उपशान्तमोह, क्षपक क्षीणमोह और जिन ये अनुक्रम से असंख्यात गुण निर्जरा वाले होते हैं ॥ ४७ ॥

विवेचन—सर्व कर्म बन्ध के सर्वांश क्षय को मोक्ष कहते हैं और एक अंश क्षय को निर्जरा कहते हैं इन दोनों के लक्षण से यह स्पष्ट होता है कि निर्जरा मोक्ष का पूर्वगामी अंग है परन्तु शास्त्र में मोक्षतत्त्व का प्रतिपादन मुख्य होने से उसके अंगभूत निर्जरा का विचार यहां किया जाता है समग्र संसारी जीवों में कर्म निर्जरा का स्रोत प्रति समय प्रवाहित रहता है तथापि प्रस्तुत सूत्र द्वारा कतिपय विशिष्ट भावों की निर्जरा क्रम बताते हैं विशिष्टात्मा अर्थात् मोक्षाभिमुखात्मा,की वास्तविक निर्जरा सम्यक्त्व प्राप्ति से है और सर्वज्ञ अवस्था में समाप्त होती है स्थूल दृष्टि से इसके मुख्य दश भेद किये गये हैं (पांचवे कर्म ग्रन्थ में इस के ग्यारह विभाग करके गुण श्रेणी नाम रक्खा है) पूर्व पूर्व विभाग से उत्तर उत्तर विभाग में परिणामों की विशुद्धता विशेष विशेष रहती है और जितनी परिणामों की विशुद्धता अधिकतर होती है उतनी ही कर्म निर्जरा विशेष होती है अर्थात् प्रत्येक उत्तर अवस्था में असंख्यातगुण निर्जरा अधिक अधिकतर होती है सबसे अधिक निर्जरा का परिणाम सर्वज्ञ अवस्था में है और कर्म निर्जरा सम्यग्दृष्टि की मानी गई है। उक्त दश अवस्थाओं का स्वरूप बताते हैं।

(१) सम्यग्दृष्टि—मिथ्यात्व का नाश और सम्यक्त्व की प्राप्ति यह मोक्ष का पहला पाया चतुर्थ गुणस्थान प्राप्ति से शुरू होता है, (२) श्रावक—अप्रत्याख्यानी कषाय के क्षयोपशम से

अल्पांश विरती (पंचम गुणस्थानक). (३) विरत प्रत्याख्यानी कषाय के क्षयोपशम से सर्व विरती. (छट्ठा गुणस्थानक). (४) अनन्त वियोजक—अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना (क्षय करने योग्य विशुद्धि), (५) दर्शनमोहक्षपक—दर्शन मोहनीय कर्म क्षय की योग्यता, (६) उपशमक—मोहनीय कर्म की शेष प्रवृत्तियों का उपशम (उपशम श्रेणी). (७) उपशान्त मोह-मोहनीय कर्म का सर्वांश उपशम (ग्यारहवां गुणस्थानक) (८) क्षपक—मोहनीय कर्म की क्षयणा (क्षयक श्रेणी) (९) क्षीण मोह—मोहनीय कर्म का सर्वांश क्षय (बारहवां गुणस्थानक) (१०) जिन—सर्वज्ञत्व पद प्राप्त हुवा हो (तेरहवां गुणस्थानक). प्रस्तुत सूत्रकार ने जो दश विभाग करके बताये हैं यही मन्तव्य कर्म ग्रन्थ का भी है परन्तु अयोगी केवली का एक भेद विशेष करके ग्यारह विभाग किये हैं ॥ ४७ ॥

निर्ग्रन्थ के भेद ।

पुलाकवकुशकुशील निर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४८ ॥

अर्थ—निर्ग्रन्थ पांच प्रकार के हैं पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक ॥ ४८ ॥

विवेचन—निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ तात्वीक (निश्चयनय) और सम्प्रदायिक (व्यवहारनय) की दृष्टि से भिन्न भिन्न है तथापि दोनों अर्थ का सामान्य रूप से एकीकरण करके उसके पांच विभाग किये हैं वास्तविक निश्चयनय से निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ यही है कि जिसमें रागद्वेष की गांठ बिलकुल न हो उसको निर्ग्रन्थ कहते हैं और जो वर्तमान में उक्त गुणों से अपूर्ण है तथापि भविष्य में तात्विक निर्ग्रन्थ पने के प्राप्ति की इच्छा रखता हो उसको व्यवहार निर्ग्रन्थ

कहते है सूत्रोक्त पाच भेदों में से प्रथम के तीन भेद व्यवहारनया पक्षी हैं और शेष पिछले दो भेद निश्चयनय से यथार्थ स्वरूपग्राही है जैसे—(१) मूल गुण और उत्तर गुण में परिपूर्णता प्राप्त नहीं की तथापि वीतराग प्रणीत आगमों से कदापि चलायमान नहीं होता उसको पुलाक निर्ग्रन्थ कहते हैं, (२) जो शरीर और उपकरण के सस्कारों का अनुसरण करता है ऋद्धि और कीर्ति को चाहता हो, सुख शील हो, ससर्ग परिवार वाला हो और छेद अर्थात् चारित्र पर्याय की हानि से तथा सबल अतिचार (दोष) युक्त हो उसको बकुश निर्ग्रन्थ कहते हैं, (३) कुशील निर्ग्रन्थ के दो भेद हैं एक प्रतिसेवना कुशील और दूसरा कषाय कुशील। प्रतिसेवना कुशील वे हैं जो इन्द्रियों के वशवर्ती हो के किसी प्रकार से उत्तर गुणों की विराधना करते हों। कषाय कुशील को तान तो नहीं परन्तु मन्द कषाय का किसी किसी समय आविर्भाव हो जाता है इनको कुशील कहते हैं (४) निर्ग्रन्थ जिसको सर्वज्ञपना प्राप्त न हुवा हो परन्तु अन्तर मुहूर्त के पश्चात् अवश्य होगा अथवा वीतराग छद्मस्थ को निर्ग्रन्थ कहते हैं, (५) स्नातक सर्वज्ञत्व पद प्राप्त सयोगी अथवा अयोगी (सैलेशी) को स्नातक कहते हैं ॥ ४८ ॥

निर्ग्रन्थों का विशेष विचार।

संयमश्रुतप्रतिसेवन्मतिलिङ्ग लेश्योपपात-
स्थान विकल्पत साध्यः ॥ ४९ ॥

अर्थ—संयम, श्रुत, प्रति सेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या उपपात, और स्थान इन आठ भेदों से साध्य होता है ॥ ४९ ॥

विवेचन—पूर्व सूत्र से निर्ग्रन्थों के पाच भेद बताये गये हैं

पुनः प्रस्तुत सूत्र से उनका विशेष स्वरूप जानने के लिये संयमादि आठ बातें अवश्य विचारणीय हैं कि ये किस अवस्था में साध्य हो सकते हैं जैसे-(१) संयम-इसके पांच भेद हैं (सामायिक छेदोपस्थापन, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात) इनमें सामा० छेदो० इन दो संयमों में पुलाक बकुश और प्रति सेवना कुशील ये तीन निर्ग्रन्थ वर्तते हैं और कषाय कुशील निर्ग्रन्थ में यथाख्यात छोड़ के शेष चारों संयम होते हैं. तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक में एक यथाख्यात संयम होता है।

(२) श्रुत—शास्त्र अभ्यास पुलाक, बकुश और प्रति सेवना कुशील को उत्कृष्ट श्रुताभ्यास सम्पूर्ण दश पूर्व का होता है कषाय कुशील और निर्ग्रन्थों को उत्कृष्ट श्रुताभ्यास चौदह पूर्व होते हैं. तथापुलाक को जघन्य श्रुताभ्यास आचारवस्तु (नौवे पूर्व का तीसरा प्रकरण) और बकुश, कुशील तथा निर्ग्रन्थों का जघन्य श्रुताभ्यास अष्टप्रवचन माता और स्नातक 'सर्वज्ञ' होने से श्रुत रहित है।

(३) प्रतिसेवना—(विराधना)—पांच मूल गुण (पंचमहाव्रत) और रात्रि भोजन विरमण इन छ व्रतों में होती है। पुलाक उक्त छ व्रतों में से किसी एक व्रत को दूसरे की प्रेरणा से या बलात्कार से किसी समय खंडन करने वाला (प्रति सेवी) होता है कितनेक आचार्य पुलाक को चतुर्थ व्रत का प्रति सेवी विराधक) मानते हैं। बकुश दो प्रकार के होते हैं एक उपकरण बकुश और दूसरा शरीर बकुश। उपकरण बकुश है वे उपकरण में आसक्त रहते हैं भांति भांति के बहुमूल्य और विशेषता वाले उपकरणों को चाहते हैं और संग्रह करते हैं तथा शरीर पर आशक्त होके उसकी शोभा सुश्रुषादि करने वाले को शरीर बकुश कहते हैं प्रति सेवना कुशील मूल गुणों की विराधना किये विना उत्तर गु०

की विराधक होते हैं, और कषाय कुशील निर्ग्रन्थ तथा स्नातक विराधक नहीं होते।

(४) तीर्थ—पाचों निर्ग्रन्थ सब तीर्थकरों के शासन काल (तीर्थ) में होते हैं कई आचार्यों का मत है कि पुलक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील ये तीनों निर्ग्रन्थ तीर्थ में नित्य होते हैं शेष कषाय कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक तीर्थ, अतीर्थ दोनों में होता है।

(५) लिंग (चिन्ह)—लिंग के दो भेद होते हैं (१) द्रव्य लिंग—भेषादि बाह्य आकार, (२) भाव लिंग—चारित्र गुण विशेष। भाव लिंग पाचों निर्ग्रन्थों में अवश्य होता है और द्रव्य लिंग की नियमा नहीं है वह किसी में होता है और नहीं भी होता।

(६) लेश्या—पुलक को तेजो, पद्म, शुक्ल, तीन लेश्या अनित्य रूप से होती हैं, बकुश और प्रतिसेवना कुशील को छयों लेश्या होती है परिहार विशुद्धि चारित्र वाले कषाय कुशील को तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या होती है और यदि सूक्ष्म संपराय चारित्र वाला हो तो केवल शुक्ल लेश्या ही होती है तथा निर्ग्रन्थ, स्नातक को शुक्ल लेश्या ही होती है परन्तु अयोगी स्नातक अलेशी होते हैं।

(७) उपपात (उत्पत्ति स्थान) पुलाकादि चार निर्ग्रन्थों का जघन्य उत्पात सौधर्म कल्प के पल्योपम पृथक्त्व स्थिति वाले देवों में होता है उत्कृष्ट उत्पात पुलाक का सहस्रार देव लोक में बीस सागर के स्थिति वाले देवों में होता है और बकुश तथा प्रति सेवना कुशीलता उत्कृष्ट उत्पात आरण, अच्युत कल्प के बाईस सागर की स्थिति वाले देवों में होते हैं कषाय कुशील निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट उत्पातसर्वार्थ सिद्ध वैमान में तेतीस सागर की स्थिति में होता है और स्नातक का उत्पत्ति स्थान निर्वाण मोक्ष है।

(८) स्थान—कषाय और योग संयम के स्थान हैं सब आत्माओं का संयम स्थान सदा एकसा नहीं रहता कषाय और योग की तारतम्यता के साथ संयम का भी तारतम्य भाव रहा हुवा है जघन्य से जघन्य निग्रह स्थान जो संयम कोटि में है उससे यावत सम्पूर्ण निग्रह रूप संयंम तक तिव्रता, मन्दता की विविधता अनेक प्रकार है तदनुसार संयम के असंख्यात भेद होते हैं वे सब संयम के स्थान कहे जाते हैं तथापि सामान्यतया वे दो विभागों में विभाजित किये गये हैं, (१) कषाय निमित्तक संयम स्थान जिसमें कषाय का उदय कुछ न कुछ अवश्य रहता है (यावत दशम गुणस्थानक वर्ती आत्मा) पूर्व वर्ती संयम स्थानों में कषायिक परिणामों की तीव्रता और उत्तरोत्तर संयम स्थान में कषायिक भावों की मन्दता रहती है (२) योग निमित्तक संयम स्थाना जिसमें योगों की निरोध अवस्था प्राप्त हो वह संयम का अन्तिम स्थान है ग्यारहवें गुणस्थान से यावत् चौदहवें गुणस्थानक वर्ती आत्मा में योग निमित्तक संयम स्थानों निष्कषायत्व रूप विशुद्धि अर्थात् अष्कषायत्वभाव समान होते हुवे भी योग निरोध की न्यूनाधिकता के अनुसार स्थिरता में भी न्यूनाधिकता होती है अर्थात् योग निरोधकी विविधता के कारण स्थिरता भी अनेक प्रकार की होती है इसलिये योग निमित्तक संयम स्थान भी असंख्याते हैं अन्तिम संयम स्थान जिसमें परम प्रकृष्ट विशुद्धता और स्थिरता रहती है वह संयम स्थान एकही है।

उक्त प्रकार के संयम स्थानों में सब से जघन्य पुलाक और बकुश का होता है वे दोनों एक काल में ही असंख्येय स्थानतक जाते हैं वहां से पुलाक पृथक् होता है और कषाय कुशील अकेला पुलाक से असंख्यात स्थान आगे जाता है क्योंकि यह दशवें गुणस्थानक तक है, तथा कषाय कुशील, प्रतिसेवना कुशील और

बकुश एक साथ असख्येय स्थानों तक जाते हैं यहा बकुश पृथक हो जाता है उसके पश्चात् असख्येय स्थान जाकर प्रतिसेवना कुशील पृथक होता है इससे आगे असंख्याता स्थान कुशील है उसके आगे कषाय के अभाव से अकषायिक स्थान अर्थात् योग निमित्तक सयम स्थान हैं वे असंख्यात और निर्ग्रंथ के प्राप्त करने योग्य हैं इसके परे सर्वोपरी प्रकृष्ट विशुद्धि और स्थिरतावाला अन्तिम संयम स्थान स्नातक का है जिसके सेवन से निर्वाण (मोक्ष) पद प्राप्त होता है सयम के असख्यात स्थान हैं तथापि पूर्व स्थान से उत्तर स्थान की विशुद्धि अनन्त गुणीमानी गई है ॥ ४९ ॥

इति तत्त्वार्थ सूत्र नवमोऽध्याय,

हिन्दी अनुवाद समाप्त ।

दशमोऽध्याय

नवमें अध्याय में संवर और निर्जरा तत्व निरूपण किया अब इस अध्याय में मोक्षतत्व निरूपण करते हैं।

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मक्षय होने पर तथा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म के क्षय होने से केवल ज्ञान प्रगट होता है ॥ १ ॥

विवेचन—मोक्ष प्राप्त होने के पहले केवल उपयोग (सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व) की उत्पत्ति जैन शास्त्रों में अनिवार्य मानी गई है और वह किस कारणों से उत्पन्न होता है उसको पहिले इस सूत्र द्वारा बताते हैं उक्त चार प्रतिबन्धक कर्म के नाश होते ही चेतना निरावरण होती है और केवल उपयोगों का अविर्भाव होता है उक्त चार कर्मों में पहले मोहनीय कर्म क्षय होता है और उसके अन्तर मुहूर्त पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म क्षय होते हैं मोहनीय कर्म सबसे प्रबल होने के कारण पहिले इसका क्षय होता है उस अवस्था को वीतराग छद्मस्थ अवस्था कहते हैं इसके पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षय होते ही केवल उपयोग प्रगट होता है।

कर्म से निरलेप होने के कारण और मोक्ष स्वरूप।

बन्धहेत्व भावनिर्जराभ्याम् ॥ २ ॥
कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥ ३ ॥

अर्थ—बन्ध हेतुओं के अभाव से और निर्जरा से कर्मों का आत्यंतिक क्षय होता है ॥ २ ॥

सम्पूर्ण कर्मों के क्षय को मोक्ष कहते हैं ॥ ३ ॥

विवेचन—एक बार बंधा हुआ कर्म कभी तो क्षय होता ही है परन्तु उसी तरह का कर्म फिर बंधने की संभावना रहती है। अत यदि उस प्रकार का कर्म अब तक शेष रहा है तो तब तक उस कर्म का आत्यंतिक क्षय होगया है-ऐसा नहीं कहा जासकता आत्यंतिक क्षय का अर्थ यह है कि पूर्वबन्ध कर्म और नये कर्म के बंधने का अभाव। मोक्षकी स्थिति कर्म के आत्यंतिक क्षय बिना सम्भव नहीं है इसीलिये यहां पर ऐसे आत्यंतिक क्षय के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। इसके कारण दो हैं-बंध हेतुओं का अभाव और निर्जरा बंध हेतुओं का अभाव होने से नये कर्म बंधते रुकते हैं और निर्जरा से पहले बंधे हुए कर्मों का अभाव होता है। बंध हेतु मिथ्यादर्शन आदि ५ हैं जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है। उनका यथायोग्य संवर द्वारा अभाव हो सकता है और तप ध्यान आदि द्वारा निर्जरा भी साध्य है।

मोहनीय आदि पूर्वोक्त चार कर्मों के आत्यंतिक क्षय होने से वीतरागत्व और सर्वज्ञत्व प्रकट होता है। ऐसा होते हुवे भी उस समय वेदनीय आदि चार कर्म बहुत ही अल्पांश क्षय होने से